समग्र ग्राम-सेवा की ओर

धीरेन्द्र मजूमदार

अ. भा. सर्व-सेवा-संघ — प्रकाशन

समग्र ग्राम-सेवा की ओर

धीरेन्द्र मजूमदार

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी
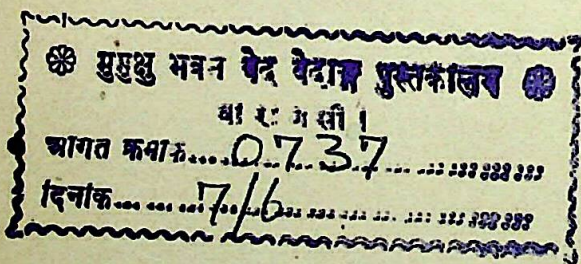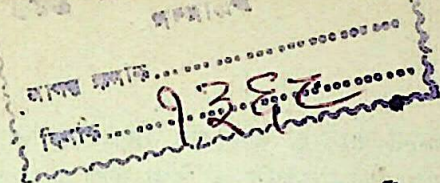
भूमिका

श्री धीरेन मजूमदार १९२० से, जब उन्होंने स्वतन्त्रता की लड़ाई में शामिल होने के लिए हिन्दू यूनिवर्सिटी छोड़ी, मेरे साथ काम कर रहे हैं। वह श्री गांधी-आश्रम (युक्तप्रान्त) के मूल-सदस्यों में से एक हैं। उन्होंने आश्रम के खादी और गाँवों के काम को संघटित किया। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने अपना सारा ध्यान गाँवों के काम पर लगा दिया। सालों तक उनके काम का कोई प्रकट परिणाम नहीं निकला। फिर भी वह असाधारण श्रद्धा और धुन के साथ अपने काम में लगे रहे।

आखिरकार इन गुणों का नतीजा निकला और उन्होंने ग्राम-सेवा के लिए फैजाबाद जिले में रणीवाँ-केन्द्र की स्थापना की। यहाँ उन्होंने न केवल गाँवों की सेवा और संघटन के लिए कार्यकर्ताओं की शिक्षा की व्यवस्था की, बल्कि स्वयं ग्रामवासियों को दस्तकारी सिखाई और स्वतन्त्र रूप से अपना काम करने तथा स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त करने में उनकी सहायता की। युक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार तक को अपने ग्राम-कार्यकर्ताओं के शिक्षण के लिए रणीवाँ-आश्रम का उपयोग करना पड़ा। १९४२ में यह संस्था नष्ट कर दी गयी और उसके साज-सामान, औजार और मशीनों को जब्त कर लिया गया और इमारत पर ताला लगा दिया गया। श्री धीरेन मजूमदार भी १९४५ तक नजरबन्द रहे। छूटने पर उन्होंने इस संस्था का फिर निर्माण किया।

उन्होंने जो कुछ लिखा है, अधिकांश अपने निजी अनुभवों के आधार पर लिखा है। उन्होंने किताबें नहीं पढ़ी हैं; जीवन की पुस्तक से सीखा है। इसलिए मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह न केवल उन लोगों के लिए उपयोगी होगा, जो गाँवों की पुनर्रचना

के कार्य में लगना चाहते हैं, बल्कि उन सरकारों के लिए भी काम का होगा, जो भारत के समाज-शरीर के चेतन कोश या घटक-स्वरूप गाँवों को नवजीवन देने के बारे में सचमुच गम्भीर हैं।

अगर लोकतन्त्र को वास्तविक और फलदायक बनाना है; अगर उसे हमारी जनता को अपने मामलों की विवेकपूर्वक व्यवस्था करने की शिक्षा देनी है, तब तो हमें आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में बहुत दूर तक विकेन्द्रीकरण को अपनाना होगा। केवल बालिग मताधिकार दे देने से सच्चा लोकतन्त्र स्थापित नहीं होता है; न तो वह सार्वदेशिक प्रारम्भिक शिक्षण से ही स्थापित होता है। हमारे अन्नदाताओं (जनता —किसानों) का शिक्षण यों न होगा। उनको तो जीवन के द्वारा और जीवन के लिए ही शिक्षित करना पड़ेगा। उन्हें अपने सारे मामलों का छोटे और व्यवस्था-योग्य पैमाने पर खुद ही इन्तजाम करना होगा। यही लोकतन्त्र के लिए वास्तविक शिक्षण होगा।

आज की दुनिया में न केवल कानून और सत्ता से, बल्कि शक्ति के सहारे भी मुक्ति—स्वतंत्रता—की रचना करनी पड़ेगी। ऐसा करना तभी सम्भव होगा, जब स्थानीय इकाइयाँ प्रभावपूर्ण ढंग पर सक्रिय होंगी। आज के विषम विश्व में, जो विज्ञान और यन्त्र-कौशल की प्रगति से और भी जटिल बन गया है, लोकतन्त्र के रक्षण का एक ही रास्ता है—गाँव की इकाई को पुनर्जीवन देना और शक्ति प्रदान करना। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि इस कार्य में श्री धीरेन मजूमदार के विचार, ग्रामों की पुनर्रचना-सम्बन्धी वास्तविक अनुभवों पर आधारित होने के कारण, उन सब लोगों के लिए बहुत अधिक सहायक होंगे, जिन्हें इस दिशा में प्रकाश की आवश्यकता है या जो प्रकाश पाने के इच्छुक हैं।

जंतर मंतर रोड,
नयी दिल्ली
२ अगस्त १९४७

—जे० बी० कृपालानी

लेखक और उनकी कृति

कहने को बंगाली, जन्म से बिहारी, दीर्घ निवास से युक्तप्रान्तीय और श्रद्धा से सर्वभारतीय, ऐसे इस पुस्तक के लेखक धीरेनभाई हैं। १९२० के असहयोग-आन्दोलन में गांधीजी के आवाहन पर जो लोग सेवा-क्षेत्र में आये और समय की कसौटी पर खरे उतरे, ऐसे गांधीजी के अनुयायियों में वे अपनी लगन और सेवा से एक ऊँचा स्थान रखते हैं। हमारे देश में कार्यकर्ताओं की संख्या नगण्य नहीं है; पर सच्चे, आत्मनिष्ठ कार्यकर्ता इने-गिने हैं; गणना की जाय, तो नेताओं की संख्या उनसे अधिक होगी। जैसे गाँवों की लक्ष्मी की गति नगर की ओर रही है; वैसे ही सेवकों, कार्यकर्ताओं की गति भी गाँवों से नगर की ओर दिखाई देती है। अधिकांश जो नगरों में रहने का प्रबन्ध कर सकते हैं, गाँवों से उधर भागते हैं। ग्रामों के जो युवक हमारी युनिवर्सिटियों से डिग्रियाँ प्राप्त करते हैं, वे भी सदा के लिए नगरों में खो जाते हैं। पर धीरेनभाई एक दूसरी कोटि के हैं। जनमे नगर में, बसे गाँव में। और आज तो सूरत-शक्ल और भेष से गँवार ही लगते हैं। गाँवों के प्रति उनका आत्मार्पण कुछ ऐसा है कि नगरों में उनका दिल घबराता है। वे गाँवों के प्रति एक सम्पूर्णतः आत्मार्पित सेवक हैं।

पर इतना ही सब कुछ नहीं है। उनमें बंगाली की भावुकता, बिहारी की सहृदयता और युक्तप्रान्त की यथार्थता एक साथ पनपी है। बंगाली नीचे दब गया है; युक्तप्रान्त ऊपर छा गया है। इसीलिए पहली नजर में वे रूखे लगते हैं। पर कुरेद दीजिये, तो मधुचक्र की तरह मधु उनसे टपकने लगता है। उनके गद्यात्मक जीवन के भीतर जन-सेवा की तन्मयता से प्राप्त गहरी संस्कारिता का आत्म-द्रवण है। अपनी संस्कारजात भावुकता को उन्होंने खोया नहीं, पर उसमें बह नहीं गये;

अपनी गहरी निष्ठा, लगन, किसी काम के पीछे सब कुछ भूलकर पड़ने की वृत्ति और सतत जाग्रत जिज्ञासा से उन्होंने उसे संस्कृत और नियंत्रित किया है। इसीलिए उनमें एक कवि की आर्द्रता और एक विवेचक की सर्वग्राही दृष्टि है।

उनकी इस कृति में उनकी ये विशेषताएँ मूर्त हैं। पुस्तक का प्रथम भाग उनकी सेवा की तैयारी और उसकी विविध अवस्थाओं के संस्मरणों तथा अनुभवों से भरा हुआ है। इसमें हम उनके हृदय की गहरी संवेदनाएँ और उनके बाद के सेवक-जीवन की विकास-रेखाएँ पाते हैं। इसमें उनकी ग्राम-सेवा की दृष्टि का प्रकाश है। दूसरे भाग में अपनी कल्पना के अनुसार भावी ग्राम-व्यवस्था का पूरा नक्शा ही रख दिया है। उन्होंने न केवल यह बताया है कि क्या चाहिए, बल्कि यह भी बताया है कि कैसे वर्तमान साधनों में सुधार करके, भारतीय ढंग पर, प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने इन सब सुधारों और परिवर्तनों में होनेवाले विशाल व्यय की पूर्ति के साधन भी सुझाये हैं। इस प्रकार उन्होंने १५ वर्ष में गाँवों के पुनर्जीवन का एक अत्यन्त व्यावहारिक बजट-सा ही पेश कर दिया है।

आज जब देश राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके आशा से उत्फुल्ल है और जब हम पर राष्ट्र एवं समाज के निर्माण की जिम्मेदारी आ गयी है और जब देश के सामने उद्योगीकरण की अनेक योजनाएँ आ रही हैं और बड़े-बड़े कल-कारखानों की चिमनी का धुआँ शिक्षित युवकों के मस्तिष्क में भर रहा है; जब गलत धारणाएँ तेजी से फैल रही हैं, तब धीरेनभाई की यह पुस्तक चौरस्ते पर खड़े दिग्मूढ़ यात्री के लिए दिशा-निर्देशक पट्ट का काम देगी,—हाँ, यदि हम कुछ सीखने और ग्रहण करने की दृष्टि से उसे पढ़ें।

(प्रथम संस्करण से) —श्री रामनाथ 'सुमन'

आत्म-निवेदन

"समग्र ग्राम-सेवा की ओर" श्रीमती आशादेवी के आग्रह पर १५ साल पहले लिखी गयी थी और वह भी उससे पहले के २० साल के अनुभव के आधार पर। उसके बाद देश और दुनिया में अनेक परिवर्तन हुए। खासकर पिछले १५ साल का समय चलचित्र जैसा द्रुतगति से बदलता गया। दुनिया की राजनीति तथा अर्थ-नीति की स्थिति वैसी नहीं है, जैसी पुस्तक में बयान की गयी है। लेकिन भारत की ग्रामीण समस्याएँ आज भी वही हैं, जो उस समय थीं। बल्कि उससे भी खराब। ग्रामीण उत्पादक वर्ग के शोषण के दायरे बढ़े हैं। ग्रामीण विकास की जितनी भी योजनाएँ बनती हैं, उनसे जिनके पास है, उनका विकास और जिनके पास नहीं है, उनका शोषण होता जा रहा है। पूँजीवाद और नौकरशाही का पैमाना भी बढ़ा है। आजादी के संग्राम के समय जनता में अधिकारियों के लिए जितना निर्भयता का निर्माण हुआ था, आज वह केवल समाप्त ही नहीं हुआ है, बल्कि ग्रामीण जनता अधिक संत्रस्त हो गयी है। इसलिए समग्र ग्राम-सेवा की आवश्यकता आज और अधिक है।

पिछले ८ वर्षों से आचार्य विनोबा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ-आन्दोलन चल रहा है और आज वह आन्दोलन

ग्रामदान की मंजिल तक पहुँच चुका है। देश की रचनात्मक प्रवृत्ति के सेवकों के लिए जमाने की यह एक बड़ी चुनौती बन गयी है। अब ग्राम-सेवा एकांगी नहीं हो सकती है। कहीं खादी-केन्द्र, कहीं ग्रामोद्योग का काम या कहीं-कहीं नयी तालीम की शालाएँ खोल-कर अब ग्राम-विकास संभव नहीं है। ग्रामराज के पहले चरण में ग्रामदान को सफल बनाने के लिए सर्वांगीण दृष्टि से सेवा-योजना बनानी होगी। ऊपर से परिकल्पित लादे हुए कार्यक्रम से काम नहीं बनेगा। उसे गाँव की शक्ति और साधन से करना होगा। वस्तुतः जिस समय पुस्तक में लिखी सेवाओं की परिकल्पना की गयी थी, उस समय उसके अनुसार देशव्यापी कार्यक्रम का उतना अवसर नहीं था, जितना आज है।

इन तमाम दृष्टियों से विचार कर पुस्तक पुरानी होने पर भी उसका तृतीय संस्करण निकालने का निश्चय किया गया। इस संस्करण में इसका रूप थोड़ा छोटा बनाया गया और मूल्य में भी बहुत कमी हो गयी है। मुझे आशा है, सर्वोदय-सेवक तथा ग्रामीण जनता लाभ उठा सकेंगे।

काशी
२५-८-'५७

धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

समग्र ग्राम-सेवा की ओर

•

पहला खण्ड

•

संस्मरण - संस्कार - अनुभूतियाँ

सेवक की अड़चन

: १ :

सेंट्रल जेल, आगरा
१-६-'४१

प्रिय आशा दीदी,

पिछले दो साल से तुम पीछे पड़ी रहीं कि मैं देहात में काम करने की बाबत अपने अनुभव लिख डालूँ। इत्तफाक से मुझ पर भी सरकारी प्रहार हो गया और मैं जेल में आ बसा। बापूजी ने लिखा था कि "तुम्हारी कैद मेरी समझ में ही नहीं आयी।" तो फिर मेरी समझ में कैसे आती? एक बात तो निर्विवाद है कि मुझे आराम चाहिए था और वह बाहर मिल नहीं सकता था। इसलिए शायद ईश्वर ने यही उपाय किया कि मुझे काम के क्षेत्र से हटा लिया। खैर, अब तो जेल आये दो महीने हो गये। दफा २६ भी लग गयी। मैं सोचता हूँ कि अब अपनी बातें तुम्हें लिखता रहूँ, जिससे तुम्हारे बहुत दिनों के अनुरोध का पालन हो जाय।

गिरफ्तारी से पहले जब आखिरी बार मैं वर्धा गया था, तो रात को खाना खाते समय हम लोग गाँव में काम करनेवालों की बाबत बातचीत कर रहे थे। मैंने कहा था कि हमारे शहरी लोग गाँव में टिकते नहीं हैं। इसका कारण है उनका शहरी संस्कार, उनकी शिक्षा और उनकी 'सुपीरियारिटी कम्पलेक्स', बड़प्पन की भावना। शिक्षित समाज के लोग देश-सेवा के लिए रुपया-पैसा छोड़ते हैं, जेल जाते हैं, तकलीफें उठाते हैं। उनका यह त्याग और उनकी यह कष्ट सहने की इच्छा राष्ट्रीय भावना पैदा कर सकती है, लेकिन इससे ग्राम-सेवा और संघटन नहीं हो सकता। तुमने पूछा था—"उनमें भला ऐसी क्या कमी है कि वे इतना त्याग करने पर भी गाँव में नहीं बैठ सकते हैं?" मैंने बताया था कि वे सब

ग्राम-सेवा की कठिनाई

कुछ त्याग कर सकते हैं, लेकिन अपने बड़प्पन की भावना नहीं छोड़ सकते। वे समझते हैं कि अपनी शिक्षा के द्वारा उन्होंने जो गुण प्राप्त किये हैं, गाव में रहने से उनकी हत्या हो जाती है और उनके अभ्यास और विकास का गाँवों में कोई भी साधन नहीं है। "मैंने इतना पढ़ा है! दुनिया में घूमकर इतना अनुभव प्राप्त किया है; भला इन मूर्खों के बीच कैसे रहूँ? इससे तो मेरी हस्ती ही मिट जायगी!" गाँववालों का उद्धार तो दरकिनार, यही वजह है कि हमारे देहात में योग्य कार्यकर्ता नहीं दिखाई पड़ते। तारीफ तो यह है कि किसी भी राष्ट्रवादी मित्र से बात करो, तो यही सुनने को मिलता है कि बिना ग्राम-सेवा तथा ग्राम-सुधार के हमारे देश में कुछ हो सकना सम्भव नहीं।

कभी कोई मित्र मुझसे गाँव में काम करने की बाबत पूछता है, तो मैं सबसे पहले उससे यही प्रश्न करता हूँ कि आप किसी गाँव में ग्रामीण बन बैठने को तैयार हैं या नहीं? क्योंकि कुछ दिन देहात में काम करने से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि जब तक हमारे शिक्षित लोग अपनी बड़प्पन की भावना का अहंकार छोड़कर गाँववालों के साथ मिल न जायँ और अपनी आदत, सभ्यता और बहुत-सी गन्दगी आदि के खिलाफ अपने संस्कार के साथ समझौता न कर लें, तब तक वे ग्रामीण जनता के प्रति श्रद्धा की भावना नहीं रख सकते।

ग्राम में काम करने की पहली शर्त

सेवा हम उन्हींकी कर सकते हैं, जिन पर हम श्रद्धा रख सकें। नतीजा यह होता है कि ऐसे लोग गाँववालों के सामने ग्रामोद्धारक के रूप में ही प्रकट होते हैं, ग्राम-सेवक के रूप में नहीं। गाँववालों को हम चाहे जितना मूर्ख समझें, किन्तु अनादिकाल से एक खास किस्म की जिन्दगी होने के कारण वे अपने तरीके, रीति-नीति आदि सभी चीजों को श्रेष्ठ समझते हैं और उस विषय पर किसी दूसरी सभ्यतावाले शिक्षक या उद्धारक को वे सहन नहीं कर सकते। ग्रामीण सभ्यता का अभिमान उनके अन्दर कूट-कूटकर भरा हुआ

ग्रामवासी की मनोधारा

है। वे हमारी सहानुभूति के थोड़े-से शब्द भी बरदाश्त नहीं कर सकते। इसलिए अगर हम गाँव के अन्दर कुछ करना चाहें, तो हमें उनके सेवा-कार्य के योग्य बनना होगा और उसी प्रकार की मनोवृत्ति भी बनानी पड़ेगी। तभी वे हमें ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शहर का शिक्षित समाज पश्चिमी सभ्यता के चक्कर में पड़कर और अपनी आर्थिक सुविधाओं के अभिमान के कारण गाँव की विशेषताएँ समझ ही नहीं सकता; अपने जीवन में उनका अभ्यास करना तो बहुत दूर की बात है। इसलिए ग्राम-सेवक को काफी समय तक अनुकूल परिस्थिति में रहकर अपने आपको ऐसी सेवा के योग्य बनाना पड़ता है। मैं जो आज थोड़ी सेवा देहात में कर पा रहा हूँ, इसके लिए मुझे भी बड़ी तैयारी करनी पड़ी थी। यह सब एक लम्बी कहानी है, जिसे मैं फिर कभी लिखूँगा। यहाँ मैं बहुत स्वस्थ हूँ। आराम खूब मिल रहा है। ● ● ●

पहला अनुभव

सेंट्रल जेल, आगरा
७-९-'४१

मैं किस तरह ग्राम-सेवा की ओर बढ़ा, आज उसीका थोड़ा इतिहास लिखने की कोशिश करूँगा।

सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन का तूफान जब मुझे विश्व-विद्यालय से घसीटकर जन-सेवा के कार्य-क्षेत्र में ले आया, तो मैं भी एक शहरी मनोवृत्तिवाला शिक्षित नौजवान था। पहले ही दिन आश्रम में अन्य भाइयों के साथ जब नित्य-क्रिया के लिए खुले मैदान में जाना पड़ा, तो मैं परीशान हो गया। खाना-पीना, रहन-सहन सब बातों से घबड़ाता ही रहा। परीशानी यहाँ तक बढ़ गयी कि मैं अपना खाना अलग ले लेता था और दूसरों की आँख बचाकर फेंक देता और पास के होटल में जाकर खाना खा आता था। दूसरे भाइयों का सहज-जीवन देखकर मुझे आश्चर्य होता था और अपने प्रति धिक्कार की भावना पैदा होती थी, किन्तु आन्दोलन की गर्मी ने बहुत सी तकलीफों को महसूस नहीं होने दिया और मैं भी सदा के लिए गांधी आश्रम में सम्मिलित हो गया। काशी में आश्रम था, शहर का वातावरण था, गाँव से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। गाँव है क्या, कुछ पता ही नहीं था। लेकिन गांधीजी तथा दूसरे नेताओं के लेखों और भाषणों से मन में यह बात बैठ गयी कि वास्तव में हिन्दुस्तान देहात में ही रहता है। देहात की आबादी ही मुल्क की आबादी है और देहात की बरबादी ही मुल्क की बरबादी है। ग्राम-सेवा और ग्राम-जीवन की तरह-तरह की कवित्वपूर्ण धारणाएँ मस्तिष्क में बैठती गयीं। सालभर बाद जब आन्दोलन की धूमधाम कम हो गयी और बहुत-से भाई अपने-अपने

आश्रम में

घरेलू जीवन में जा फँसे, तो आश्रम के बचे हुए भाइयों ने आचार्य कृपालानीजी की प्रेरणा से यही निश्चित किया कि अब देहात में चलकर चर्खे आदि द्वारा ग्राम-संगठन का काम किया जाय। रामाश्चर्य भाई बनारस से २० मील दूर धौरहरा गाँव भेजे गये। वे वहाँ जाकर बस गये। आश्रम के कई भाई भी उस गाँव में जाते-आते थे।

मैं उन दिनों इन भाइयों का देहात में आना-जाना देखा करता था और उनकी आपस की बातचीत भी ध्यान से सुना करता था। मन में देहात देखने की इच्छा प्रबल होती गयी। इसी बीच आश्रम के एक भाई देवनन्दन दीक्षित जेल से छूटकर आये और घर के किसी अनुष्ठान के बहाने उन्होंने आश्रमवासी भाइयों को अपने चौबेपुर गाँव में आमंत्रित किया। चौबेपुर बनारस से १६ मील पर है। हम सबने यही तय किया कि पैदल जायँगे और पैदल आयँगे। चौबेपुर जाते समय रास्ते में कई गाँव पड़े। देहात में पहले-पहल जाना हुआ। हरे-भरे खेतों के बीच सुन्दर-सुन्दर झोपड़ियाँ देखने को मिलीं। सीधे-सादे किसानों को अनन्त आकाश के नीचे खुली

प्रथम दर्शन

हवा में काम करते हुए देखा। छोटे-छोटे बच्चों को देहात के बगीचों में खेलते-कूदते और हँसते हुए गौएँ चराते देखा। रास्तेभर देहाती जीवन की झलक देखते हुए हम लोग चौबेपुर पहुँचे। चौबेपुर का एक दिन का निवास बड़ा दिलचस्प रहा। देहाती भाइयों का सीधा-सादा और हँसमुख व्यवहार हमारे लिए एक दृश्य ही था। अतिथि-सत्कार भी एक खास तरह की दिली चीज थी। चौबेपुर से उसी दिन लौट आया। जिस देहात और देहातियों के विषय में पढ़ता और सुनता आया था, उन्हें अपनी आँखों देखा। प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच का उनका जीवन मुझे बहुत अच्छा मालूम हुआ। कभी-कभी यह भी भावना पैदा हुई कि ऐसे ही सुन्दर स्थान में जाकर रहना चाहिए।

राजाराम भाई एक सप्ताह के लिए धौरहरा गाँव जा रहे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया और रेलगाड़ी से राजवाड़ी स्टेशन उतरकर ३ मील पैदल चलने के बाद धौरहरा पहुँचा। धौरहरा

में ५-६ दिन कोई काम नहीं था। वहाँ के मिट्टी के छोटे-छोटे और दूसरे घरों से घिरे हुए मकान, छोटे-छोटे आँगन, दरवाजों के निकट ही गलियों में नाबदान के दृश्य, रसोईघरों से निकलते हुए धुएँ के जमघट एवं आँगन और घरों की सदियों से जमी हुई नमी के कारण पृथ्वी से निकलती हुई भाप आदि ने मेरी देहात के सम्बन्ध में इतने दिनों की कवितापूर्ण धारणा और उस दिन की मधुर स्मृति, सबको एक साथ मिट्टी में मिला दिया। रामाश्चर्य के तो देहाती लोग मित्र बन गये थे। गाँव के खास-खास लोगों से परिचित कराने के लिए वे मुझे उनके घरों में ले जाने लगे। हमारे जाने पर लोग हमसे खुशी से

एक झटका

मिलते थे। लेकिन बातचीत में उनके लट्ठमार जवाब सुनकर तथा अपनी बात पर हर वक्त जिद करने की उनकी प्रवृत्ति देख-कर मुझे परीशानी हुई। हम लोगों की खातिर करने के लिए वे अपने घरों से तोशक और कथरी लाते थे। इन चीजों से इतनी अधिक बदबू निकलती थी कि उन पर बैठने को जी नहीं चाहता था। लेकिन न बैठने से उनके अपमान की आशंका थी। कहीं-कहीं लोग बैल और घोड़ा बाँधने के गन्दे और बदबूदार स्थान के पास ही चारपाई बिछाकर बड़ी खातिर के साथ हम लोगों को बैठाते थे। इस प्रकार गाँव में रहना बड़ी परीशानी की बात थी। झुण्ड-की-झुण्ड मक्खियों के बीच बैठकर खाना खाना भी मेरे लिए एक अपूर्व अनुभव था। पाँच-छह रोज में ही मैं परीशान हो गया और वहाँ से बनारस चल दिया। देहात में जाकर रहने का स्वप्न समाप्त हो गया। मैंने अपने मन में विचार किया कि जब ये लोग इतने सुस्त, इतने मूर्ख और इतने गन्दे हैं, तो इनकी यह हालत होना तो स्वाभाविक ही है। मुझे उनके प्रति एक घृणा-सी हो गयी।

कुछ दिन के बाद रामाश्चर्य भाई बनारस आये। मैंने उनसे कहा कि भाई, इतने दिनों से उस गाँव में हो, किन्तु उन्हें थोड़ी सफाई भी न सिखा सके। रामाश्चर्य भाई ने हँसकर जवाब दिया कि उनके रहने के तरीके में सुधार नहीं हो सकता और न वे सुधरने को तैयार ही हैं। फिर

भी शहर के सुधरे हुए और साफ रहनेवाले लोगों से वे अधिक स्वस्थ और मजबूत हैं। परिश्रम अधिक कर सकते हैं।

हम लोग बात कर ही रहे थे कि एक दूसरे भाई वहाँ आ पहुँचे और हमारी बातें सुनकर हमारा मजाक उड़ाने लगे। "शहर के बाबू लोग देहात की बातों को क्या समझेंगे ?" इत्यादि। मैंने इन लोगों से बातें तो कीं, लेकिन दिमाग में परीशानी बनी रही। रह-रहकर यही खयाल आता था कि क्या मैं इस योग्य हूँ कि हिन्दुस्तान के जन-सेवा-कार्य में सफल हो सकूँ ? किताबें पढ़ने और नेताओं के व्याख्यान सुनने से यह बात मेरे हृदय में भलीभाँति बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्तान की जन-सेवा का अर्थ ग्राम-सेवा है। पर गाँव की हालत यह है कि वहाँ जाकर एक दिन भी टिकना मुश्किल है। और फिर इन लोगों के प्रति ऐसी अश्रद्धा रखते हुए उनकी सेवा ही क्या करूँगा ? इस प्रकार के विचार रह-रहकर दिमाग में आते रहे। दो-तीन माह तक मैं इसी प्रकार की चिन्ताओं में बहुत परीशान रहा। कई बार यह भी मन में आया कि बहुत-से अन्य भाइयों की तरह पुनः कॉलेज में वापस चला जाऊँ, किन्तु एक बार जो निश्चय कर चुका था, उससे पीछे हटना भी कठिन ही प्रतीत होता था। इस द्विधा और परीशानी के बीच मैं कर्तव्या-कर्तव्य का कुछ निश्चय न कर सका और लाचारी की अवस्था में पहले की तरह व्यतीत करने लगा। मेरी तबीयत भलीभाँति किसी काम में नहीं लगती थी, जिससे लोग मुझे खब्ती समझने लगे। बाद को परिस्थिति और मेरी मनोवृत्ति में कुछ तबदीली हुई और मेरा दिमाग अधिक स्थिर होने लगा। यह तबदीली किस प्रकार हुई, इसे दूसरे दिन लिखूँगा।

किंकर्तव्यविमूढ़

● ● ●

जिन्दगी की तैयारी

: ३ :

संट्रल जेल, आगरा
१३-६-'४१

उस दिन मैंने तुम्हें लिखा था कि गाँव की बुराइयों को देखकर गाँववालों के प्रति मुझे कैसी घृणा हो गयी। इतने दिन से गाँव के प्रति इतनी मधुर धारणा रखने पर भी इतनी जल्दी सारा स्वप्न समाप्त हो गया, यह क्या बात है ? क्या गाँव की हालत देखकर ही ऐसा खयाल पैदा हुआ या कुछ भीतरी संस्कार, जो कवितामय भावना से दबे हुए थे, एकाएक उभर पड़े, यह सोचने की बात थी। तुम्हें तो मालूम ही है कि बंगाली मध्यम श्रेणी के लोगों में 'छोटे लोग' और 'भद्र लोग' के नाम से दो श्रणी का विकट संस्कार कूट-कूटकर भरा हुआ है। उनके लिए छोटे लोग मनुष्य श्रेणी में नहीं गिने जाते। वे हेय और नीच समझे जाते हैं। मैं भी तो बंगाली बाबू श्रेणी का एक युवक था।

श्रेणीगत अहंकार

इसलिए जो लोग सफेद कपड़ा नहीं पहनते, उन्हें छोटे लोग अर्थात् नीच और हेय समझना मेरे लिए स्वाभाविक ही था। उस वक्त यह बात कहाँ मालूम थी कि गाँव के सीधे-सादे लोग दीन हो सकते हैं, हीन नहीं। मेरे जैसे एक नौजवान के लिए यह समझना नामुमकिन था कि सदियों के अवसर और साधन के अभाव ने ही उनकी हालत ऐसी बना दी है। उस समय मुझमें श्रेणीभेद का संस्कार इतना प्रबल था कि मेरे लिए यह भी समझना असम्भव-सा था कि इस गन्दगी और अक्खड़ प्रकृति की तह में भी हजारों वर्ष की सुसंस्कृति चिनगारी की तरह राख के नीचे दबी हुई पड़ी है। ये सब बातें मुझे सालों बाद मालूम हुईं। उस समय तो गाँव की बात सोचकर मुझे परीशानी ही होती थी और उनके प्रति अश्रद्धा की भावना

ही उत्पन्न होती थी। मैं समझता हूँ कि भारत के सैकड़ों नौजवानों की यही मनःस्थिति है। ग्राम-सेवा की उत्कट इच्छा रखते हुए भी वहाँ की जिन्दगी के प्रति वितृष्णा की भावना उत्पन्न हो जाती है।

बनारस लौटकर मैं अपने काम में लग गया। मेरे जिम्मे बढ़ई-विभाग के संचालन का काम था। इञ्जीनियरिङ्ग कॉलेज में पढ़ने की वजह से यह काम मेरे अनुकूल भी था। स्वभावतः ही मैं अपने काम में मशगूल हो गया। लेकिन रह-रहकर धौरहरा का खयाल मेरे दिमाग में आता ही रहता था। सोचता कि क्या मैं राष्ट्रीय सेवा के योग्य नहीं हूँ ! मैं देखता था कि मेरे कुछ दूसरे भाई काफी आसानी से देहात का काम कर लेते थे। उनका घर देहात में ही था और उनके लिए देहाती वायुमण्डल स्वाभाविक था। मैं इस चिन्ता में काफी वक्त बिताता था और अपने मन में काफी दुखी रहता था। कभी-कभी यह भी खयाल आता था कि मैंने असहयोग आन्दोलन में नाहक भाग लिया। उस समय

हृदय-मंथन

के वायुमण्डल में नवयुवकों के बीच एक निराशा-सी छायी हुई थी। मेरे सैकड़ों साथी एक-एक करके कॉलेज वापस जा रहे थे, यह चिन्ता भी मुझे काफी परेशान करती थी, लेकिन जब-जब सोचता था, तब-तब दिल से यही आवाज उठती थी कि अब आगे बढ़े हो, तो वापस क्यों जाओगे ? अगर कुछ करना है, तो आगे ही बढ़ना ठीक है, पीछे हटना तो नामर्दी का काम होगा। इस प्रकार आखिरी निश्चय यही हुआ कि आगे बढ़ना ही उचित है। मेरे दिल में यह बात पहले ही से बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्तान गाँव में बसता है और इस मुल्क की सेवा तभी हो सकती है, जब कि हम गाँव की सेवा करें। लेकिन क्या अपने भीतर उच्च वर्ग की मनोवृत्ति रखते हुए गाँव की सेवा सम्भव है ? इस प्रकार की भावना के साथ गाँव में दो दिन टिकना भी मुश्किल हो जायगा। फिर जिनके प्रति श्रद्धा नहीं है, उनकी सेवा क्या कर सकेंगे ? सेवा उसीकी की जा सकती है, जिसके प्रति हम श्रद्धा रख सकें। मैं सोचने लगा कि यह श्रद्धा आये कैसे ? इसके लिए तो सर्वप्रथम अपने

भद्रपन की भावना को छोड़ना पड़ेगा। यों तो मैंने जब से कॉलेज छोड़ा था, तभी से अपनी रहन-सहन बहुत सादी कर ली थी। आश्रम का वायुमण्डल ही वैसा था। किन्तु उस समय से मैंने अपने कपड़ों को देहाती की तरह बनाने की कोशिश करना शुरू किया। आश्रम में यह रिवाज था कि रोज-रोज साबुन से कपड़े धोकर साफ रखे जायँ। मैं कपड़े तो रोज धोता था, किन्तु उन्हें अधिक सफेद नहीं करता था। अपने आपको कुछ ऐसे रंग में रँगना चाहता था कि देहातियों के साथ उठना-बैठना सहज हो सके। आश्रम के दूसरे भाई इस पर काफी टिप्पणी करते थे, मेरा मजाक भी उड़ाते थे, लेकिन मैं इन बातों को हँसकर उड़ा देता था। उनसे कहा करता था कि भाई, यह भी एक 'स्टैंडर्ड' है। आखिर कहीं धब्बा तो है नहीं ? शुरू से आखिर तक एक ही रंग मिलेगा।

बनारस में मैं यही सोचा करता था कि किस तरह अपने को गाँव के कार्य के योग्य बना सकूँ। इसी बीच श्री दिनेशचन्द्र चक्रवर्ती नाम के एक नौजवान ने बनारस में अछूतोद्धार का काम प्रारम्भ किया था। मैं

अछूतों से सम्पर्क

कभी-कभी उन्हें चन्दा इकट्ठा करने के काम में सहायता दे दिया करता था और कभी-कभी उन्हींके साथ अछूतों के मुहल्ले में भी जाया करता था। धीरे-धीरे उनके दरवाजे पर उठना-बैठना भी शुरू कर दिया। इस प्रकार क्रमशः मेरा उनके साथ उठना-बैठना सहज होता गया। दिनेश बाबू के साथ अछूतों के मुहल्ले में आने-जाने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मेरे हृदय में उनके प्रति घृणा की जो भावना भरी हुई थी, वह धीरे-धीरे दूर होती गयी और मैं गन्दगी को सहन करने का अभ्यासी होता गया। लोगों के इस प्रकार के जीवन को बदलने के अभिप्राय से जब मैं उनसे बार-बार मिलने लगा, तो मुझमें भी कुछ परिवर्तन होने लगा। इस बात की आशंका भी होने लगी कि कहीं मेरी अवनति न हो जाय। मेरे मस्तिष्क में इस धारणा ने घर कर लिया था कि देहात की जनता को उठाने में ही देश का कल्याण है। मैं इस प्रकार का अवसर प्राप्त

करने के लिए व्यग्र रहा करता था, किन्तु हृदय के पूर्व संस्कार इतने प्रबल थे कि धौरहरा जाते ही बाबू मनोवृत्ति उमड़ आयी। तुम पूछोगी कि जो संस्कार प्रारम्भ में खेत गोड़ने, बर्तन माँजने और ठेला खींचने पर भी नहीं मिट सके थे, वे बाद में किस तरह मिट सके। सचमुच यह सोचने और समझने की बात है।

शुरू में जब हम मजदूरी का काम करते थे, तो आश्रम-जीवन के साथ यंत्रवत् चलते रहे। उस समय किसी खास ढंग की ओर अपने को ले जाने की नीयत नहीं थी। वह जीवन सम्मिलित जीवन का एक अंग था। साथ मिलकर नियमित रूप से परिश्रम करने और तकलीफ उठाने के कारण आश्रमवासियों में आपसी प्रेम और भ्रातृ-भाव गम्भीर होता जाता था, किन्तु उन कामों के द्वारा मध्यम श्रेणी की भद्रता की भावना दूर करने में कोई सहायता नहीं मिलती थी, क्योंकि उस समय हमारी दिमागी प्रवृत्ति में इस पकार की कोई भावना नहीं थी। किन्तु बाद में जब मैं इस दिशा में प्रयत्न करने लगा, तो एक विशेष प्रकार की नीयत और धारणा के साथ करने लगा। तब यह पिछला प्रयास भीतरी संस्कार को कम करने में अधिक सहायक हुआ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यदि आश्रम में आरम्भ से ही शारीरिक परिश्रम का आदर्श और अभ्यास न रहता, तो बाद का प्रयास भी सम्भव नहीं होता। आश्रम के हर काम को अपने हाथ से करने के अभ्यास ने हम लोगों को ग्राम-सेवा के योग्य बनाने में विशेष सहायता दी।

इस तरह सालभर बनारस में ही बीत गया। मैं ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा, जब आश्रम के लोग स्वयं ही मुझे गाँव में भेज दें। और एक दिन ऐसा मौका आ ही गया। उसकी कहानी अगले पत्र में। ● ● ●

सेवा की ओर

: ४ :

सेंट्रल जेल, आगरा
१४-६-'४१

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें मेरी इस कहानी से यह मालूम हो जायगा कि गाँव में रहकर काम करने की वृत्ति उत्पन्न करना भी सेवक के लिए एक विशेष प्रोग्राम है। वह इस प्रोग्राम को पूरा करने के बाद ही कुछ काम शुरू कर सकता है। पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि मैं गाँव में जाकर काम करने का अवसर ढूँढ़ रहा था। इसी बीच मुझे उसकी सुविधा मिल गयी। इधर कुछ दिनों से मैंने यह सोचकर होमियो-पैथिक-चिकित्सा-पद्धति का अध्ययन करना और उसीके अनुसार दवा देना शुरू कर दिया था कि अगर मैं गाँव में जाऊँगा, तो वह विद्या मदद करेगी। इसकी सूझ मुझे बनारस के रामकृष्ण मिशन से मिली थी। श्री रामकृष्ण की जीवनी और रामकृष्ण मिशन की सेवा-वृत्ति ने मुझे पहले से ही उस ओर प्रेरित किया था। मैं प्रायः रोज रामकृष्ण सेवाश्रम में जाता था और वहाँ के सेवकों से वार्तालाप किया करता था। श्री कालिका महाराज मुझे बड़े स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। उनसे मैं प्रायः कहा करता था कि मैं देहात में ही काम करना चाहता हूँ। उन्होंने बताया था कि देहातियों को जीतने के लिए उन्हें दवा देने का काम पहले हाथ में लेना चाहिए। वे ईसाइयों के काम की मिसाल भी दिया करते थे।

ग्राम-सेवा की मनोवृत्ति का महत्त्व

सन् १९२३ के सितम्बर का महीना था। आश्रम में आये तीन वर्ष हो चुके थे। अब तक धौरहरा के अलावा फैजाबाद जिले के अकबरपुर में चर्खा और खादी का केन्द्र खुल चुका था। श्री अनिल भाई वहाँ के इन्चार्ज थे। अनिल भाई और राजाराम भाई बनारस आये हुए थे।

बढ़ई-विभाग बन्द हो चुका था। मैं खादी की फेरी करता था। अनिल भाई से पहले से ही मेरी घनिष्ठता थी। मैं एक प्रकार से उन्हें गुरु मानता था। उन्होंने मेरे कमरे में होमियोपैथिक दवाओं के बक्स को देखकर पूछा कि यह क्या शुरू किया है? मैंने उन्हें बताया कि आजकल यही सीख रहा हूँ। अगर कभी गाँव में जाने का अवसर मिला, तो यह काम देगा। इस पर उन्होंने फिर पूछा कि तुम देहात जाना चाहते हो क्या? देहाती जीवन पसन्द आयेगा? वहाँ की तकलीफ सह सकोगे? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि मैं नहीं कह सकता कि सह सकूँगा या नहीं, लेकिन यह मैं जरूर चाहता हूँ कि मुझे देहात का काम दिया जाय। जब-जब देहात में काम करने का समय आया, तब-तब लोगों को मेरे विषय में सन्देह ही रहा। अनिल भाई भी उस समय शायद ऐसा ही सन्देह रखते थे, इसलिए उन्होंने निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया और दूसरे ही दिन वे और राजाराम भाई अकबरपुर चले गये।

मुमकिन है, अनिल भाई ने राजाराम भाई से कुछ सलाह ली हो। थोड़े ही दिन बाद अकबरपुर से मुझे वहाँ बुलाने के लिए राजाराम भाई का पत्र आया। मैं तो जाना ही चाहता था, जल्दी से सामान बाँधकर रवाना हो गया। अकबरपुर तहसील का केन्द्र-स्थान है। अच्छा-सा कस्बा है। आश्रम का मकान अच्छा था; सड़क भी काफी अच्छी थी, इसलिए यहाँ आने पर देहात का अनुभव नहीं हो सका। किन्तु मन में इतना ही सोचकर सन्तोष किया कि बनारस के मुकाबले में तो देहात ही है। अनिल भाई से काम के सम्बन्ध में बातचीत की। उन्होंने कहा कि मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम लोगों को होमियोपैथिक दवा दिया करो। इस मनोनुकूल काम से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं 'डॉक्टर साहब' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कभी-कभी देहात के लोग भी आकर दवा ले जाते थे, लेकिन अधिकतर कस्बे के लोग ही दवा लिया करते थे। शुरू-शुरू में मैं काम में इतना तल्लीन हो गया कि मुझे और किसी बात की चिन्ता ही न रही। किन्तु एक-डेढ़ माह बाद मुझे खयाल आया कि

'डॉक्टर साहब'

इस तरह तो मुझे गाँव का कोई अनुभव ही नहीं हो रहा है, अतः गाँव में जाकर कुछ करने के लिए मैं चिन्तित रहने लगा। मैं श्री राजाराम भाई के पीछे पड़ा कि वे मुझे अपने साथ ले चलें और गाँव दिखा दें। वे तैयार हो गये और एक दिन मैं चर्खा-प्रचार करने के लिए गाँव को रवाना हुआ। धीरे-धीरे मैं भी देहात के लोगों के साथ खूब हिल-मिल गया। शुरू में तो मुझे काफी परीशानी रही। यहाँ तक कि गाँव में दरवाजों के सामने अनाज सूखता हुआ देखकर मैं उसे आँगन समझ लौट आता था। सोचता था कि प्राइवेट घरों के भीतर से किस तरह चलूँ! इस प्रकार की बहुत-सी बातों को लेकर राजाराम भाई दूसरे लोगों के सामने मेरी हँसी उड़ाते थे। किन्तु इस तरह मेरे दिल की बहुत दिनों की इच्छा धीरे-धीरे पूरी होने लगी और मैंने गाँव का काम करना शुरू कर दिया। रोज-रोज गाँव जाने-आने के कारण देहात के प्रति अश्रद्धा की भावना हटती चली गयी। भद्रता की भावना तो अब करीब-करीब समाप्त हो रही थी। उसे तो मैंने बनारस से ही हटाने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया था, जो कुछ बाकी थी, वह भी देहात के लोगों से रोज-रोज के मिलने-जुलने से समाप्त हो गयी। इस बात से मुझे बहुत संतोष हुआ कि अब मैं ग्राम-सेवा के लिए योग्य बनता जा रहा हूँ। ● ● ●

ग्रामवासियों से सम्पर्क : ९ :

सेंट्रल जेल, आगरा
१७-६-'४१

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह मैंने देहात में काम करने का श्रीगणेश किया। देहात के लोगों के साथ उठने-बैठने से उनके प्रति मेरी मानसिक अश्रद्धा दूर होती गयी। रहन-सहन और पोशाक आदि के विषय में तो मैंने बनारस से ही काफी लापरवाही शुरू कर दी थी। लेकिन दिमाग में अपने को आम जनता से ऊँचा ही समझता था और इसी भावना के कारण अभी तक देहाती लोगों के साथ मिलना-जुलना उतना स्वाभाविक नहीं हो पाया था। यों कहने के लिए तो मैं करीब-करीब रोज ही देहातियों के बीच जाया करता था। लेकिन जाता था उन्हीं देहातियों के घर, जिनसे राजाराम भाई से जान-पहचान थी और जो देहातियों की दृष्टि में उच्च श्रेणी के गिने जाते थे। इनसे मिलने में बराबरी का व्यवहार रखने की स्वाभाविकता की रक्षा करना मेरे लिए कठिन होता था। मेरी तरह का एक नौजवान, जिसने निश्चय कर लिया था कि जीवन में देश और गाँव का ही काम करेंगे और जो दो तीन वर्ष से अपने को इसीके अनुरूप बनाने की कोशिश भी कर रहा था और जिसके लिए आश्रम का वातावरण और उसकी शिक्षा भी इस कोशिश के अनुकूल ही थी, जब गाँव के उच्च श्रेणी के लोगों के साथ मिलने में भी कठिनता महसूस करता था, तो शहर के शिक्षित समाज के लिए, एकाएक गाँव में जाकर गाँव के लोगों को अपनाना कितना कठिन है, यह भली-भाँति समझ सकती हो। यही कारण है कि मैं गाँव के काम करनेवालों के लिए अपनी श्रेणी-विशेषता का दूर करना सबसे अधिक आवश्यक समझता हूँ। कारण, ऐसे लोग देहात में जाकर उन बातों को हटवाने की

कोशिश करने लगते हैं, जो उन्हें अपनी श्रेणी और अपने समाज के अनुकूल न होने से बुरी लगती हैं या जिनके कारण उन्हें स्वयं कष्ट अनुभव होता है। बरसात में उन्हें गाँव के भीतर कीचड़ में घूमना कष्टदायक लगता है; अतएव वे देहात की गलियों में ईंट बिछवा देना ग्राम-सुधार कार्य का एक आवश्यक अंग मानते हैं। आर्थिक सुविधाओं में जन्म लेने और शिक्षा पाने के कारण उन्हें क्या पता कि देहात के जन-समूह के पास इतनी ईंटें जुटाने का धन और साधन है या नहीं? अगर वे कहीं बाहर से ईंट माँगकर लायेंगे, तो उनके पास सोचने की इतनी शक्ति नहीं है कि उन ईंटों को साफ और दुरुस्त रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। देहात के घरों मे बैठने से उनका दम घुटता है, इसीलिए वे उनमें खिड़की की व्यवस्था कराने की कोशिश करते हैं। वे देहात में जाते ही वहाँ के प्रचलित शादी, विवाह तथा अन्य अनुष्ठानों के विरुद्ध प्रचार एवं विवाद करने लगते हैं, जिसे गाँववाले सहन नहीं कर पाते।

उच्चता का अभिमान दूर रखने की आवश्यकता

केन्द्रबिन्दु को स्पर्श करो

गाँव के भीतर जाकर हमें गाँवों के उस बिन्दु पर उँगली रखनी है, जिस बिन्दु पर गाँववालों को सबसे अधिक कष्ट है। हमें सबसे पहले इसीका समाधान खोज निकालना है।

मैंने कई वर्ष देहात में रहकर अनुभव किया है कि देहाती जनता के भीतर स्वाभिमान की भावना इतनी अधिक भरी हुई है कि वे बाहरी लोगों से हर प्रकार की बातें तो करेंगे, किन्तु जिन बातों का उन्हें कष्ट होगा, उन्हें हर प्रकार से गुप्त रखने का प्रयत्न करेंगे। वे यह सहन नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति उनके कष्टों को जानकर उन्हें किसी प्रकार से छोटा समझ ले। मैंने यह भी देखा है कि गाँवों में नीच कही जानेवाली जातियों के लोग अगर गाँव में किसी भद्र पुरुष को देखते हैं, तो उनसे अपनी गरीबी के साधारण दुःखों का बयान करते हैं और छोटे-मोटे कष्टों को सुनाकर कुछ आर्थिक सुविधा भी प्राप्त कर लेते हैं। पर जिन बातों

का उन्हें खास कष्ट है और जिनकी समस्या उनके सामने रात-दिन रहती है, उनका वे जिक्र तक नहीं करते। गाँव की दशा पूर्ण रूप से न जाननेवालों के लिए ग्राम-सेवा का काम कठिन हो जाता है, इसलिए ग्राम सेवक को सबसे पहले ग्रामवासियों को तुच्छ समझने की भावना का मूलोच्छेदन कर उनके साथ ऐसे सहज और स्वाभाविक ढंग से मिलना होगा कि वे उन्हें अपने ही कुटुम्ब का एक व्यक्ति समझने लगें। यदि हम ऐसा नहीं करते, तो उनकी समस्याओं को समझ ही नहीं सकते, सेवा और सुधार तो बहुत दूर की बात है।

ग्रामवासियों का स्वाभिमान

अतएव मुझ जैसे भद्र की भावना से पूर्ण और ग्रामीण-समाज की सम्पूर्ण समस्याओं से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए उनके साथ काफी घनिष्ठता का व्यवहार हो जाने पर भी उनसे एक हो जाने की भावना लाना सम्भव न हो सका। मैं देहात में जाता था, देहातवालों को घर-द्वार साफ रखने की बात बताता था; और चर्खा चलाने की बात खास तौर से किया करता था, किन्तु वे अधिकतर यही उत्तर देते थे कि हमारे घर की स्त्रियों को चर्खा चलाने के लिए अवकाश ही नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण और क्षत्रिय घरों की परदा-पद्धति के कारण स्त्रियों से हम सीधे किसी प्रकार की बात नहीं कर सकते थे; किन्तु कुर्मी आदि किसानों में स्त्रियों से बातचीत हो जाती थी। मैंने अनुभव किया कि ग्रामीण अर्थशास्त्र से सम्बन्धित बातों को गाँव की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और शीघ्र समझ जाती हैं। उस वक्त मेरे मन में आया कि हम यदि देहात की स्त्रियों में काम करें, तो गांधीजी के प्रोग्राम को बहुत शीघ्र पूरा कर सकते हैं। उन दिनों मैं इस बात का अनुमान न कर सका कि स्त्रियाँ क्यों हमारी बातें पुरुषों की अपेक्षा जल्दी समझ लेती हैं। देहाती क्षेत्र में लम्बी अवधि तक काम करते-करते यह बात मेरी समझ में आने लगी कि पुरुष-जाति के लोग कभी-न-कभी किसी-न-किसी काम से शहर में आया-

ग्रामीण नारी की सहज चेतना

जाया करते हैं और इस प्रकार शहरी और पश्चिमी सभ्यता के लोगों से उनका संसर्ग हुआ करता है, वे शहरी तथा पश्चिमी सभ्यता की निकृष्ट बातों को अधूरे और विकृत रूप में ग्रहण करते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके हृदय में भारतीयता के स्थान पर एक निम्न प्रकार की शहरी सभ्यता टूटा-फूटा स्वरूप धारण कर लेती है। इधर हमारा प्रचार गांधीजी के सिद्धान्त के अनुसार ही हुआ करता है, जो ग्रामीण सभ्यता के बिल्कुल अनुकूल होता है। इसीसे गाँव की स्त्रियाँ उसे

ग्रामीण सभ्यता का प्रकाश उनमें सुरक्षित है

ठीक-ठीक समझ लेती हैं, क्योंकि वे नगर-निवासियों के अधिक संसर्ग में नहीं आतीं। सदियों की गरीबी की मार पड़ने पर भी उनके अन्दर जो कुछ सभ्यता बाकी रह गयी है, वह प्राचीन भारत की ग्रामीण सभ्यता का अवशेष मात्र ही है और गांधीजी उसी चीज का विकास करना चाहते हैं। इसलिए गाँव की स्त्रियों की आत्मा का स्वर गांधीजी के सिद्धान्त के साथ ठीक-ठीक मेल खा जाता है। यही कारण है कि वे हमारी बातों को जल्दी ग्रहण कर लेती हैं।

इसी प्रकार सोचते-विचारते और काम करते हुए महीनों बीतते गये। मैं अपने को देहाती जीवन के योग्य बनाने का प्रयत्न करता रहा। कुछ

टाण्डा में

दिनों के बाद अकबरपुर से १२ मील दूर टाण्डा ग्राम में आश्रम का सूत-केन्द्र खोला गया। लोगों ने मुझे टाण्डा भेज दिया और मैं वहाँ किराये का एक छोटा-सा मकान लेकर रहने लगा। टाण्डा में रहते समय मैं ग्रामीण जनता से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने और उनको अधिक निकट से अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इसकी कहानी फिर कभी।

● ● ●

भेद-भाव और मातृ-हृदय

: ६ :

सेंट्रल जेल, आगरा
२१-६-'४१

सन् १९२३ के नवम्बर का महीना था; जाड़े का मौसम। इसी समय मैं टाण्डा पहुँचा। वहाँ जाकर शुरू-शुरू में मुझे अपने रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध करने में कठिनाई प्रतीत हुई। अकबरपुर से मैं कभी-कभी टाण्डा का बाजार किया करता था और शुरू-शुरू में चर्खे का सूत बहुत मोटा होता था, तो यहाँ उसकी दरी भी बनवाता था। उस दिन जब मैं वहाँ पहुँचा, तो दरी बुननेवाला एक लड़का मेरे साथ रहकर दिन-भर मेरे कमरे की सफाई कराता रहा। शाम को सफाई पूरी हो जाने पर मैंने स्नान किया और लडके से पूछा कि यहाँ खाने-पीने की कौन-कौन-सी चीजें मिलती हैं। कोई होटल है कि नहीं? उसने बताया कि पूरी-मिठाई के अलावा खाने-पीने की और कोई चीज नहीं मिल सकती। मैंने उससे पूछा कि "क्या तुम अपने घर से रोटी बनवाकर दे सकते हो? पर मैं किसीका जूठा नहीं खाता, इसलिए खाना सफ़ाई से बनवाकर दोगे, तभी मैं खा सकूँगा।" वह मेरी बातें सुनकर आश्चर्य में डूब-सा गया और कहने लगा कि "आप हिन्दू होकर मेरे घर की रोटी कैसे खायँगे?" मैंने कहा कि "हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग हैं क्या? दोनों ही तो मनुष्य हैं। यदि दोनों का खाना-पीना एक में हो जाय, तो मनुष्यता में कोई अन्तर नहीं आयेगा। आज दोनों के खान-पान एक-दूसरे से इसलिए अलग-अलग हैं कि दोनों ने अपने-अपने रस्म-रिवाज अलग-अलग कर रखे हैं और एक-दूसरे से घृणा करते हैं। हाँ, दोनों में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि तुम लोग जूठन से परहेज नहीं करते; लोटा-गिलास साफ करके नहीं

मुसलमान माता का आतिथ्य

रखते, किन्तु हम लोग इसका पूरा ध्यान रखते हैं। इसीलिए हमारा-तुम्हारा खाना पीना एक में नहीं होता, अन्यथा तुम्हारे छूने मात्र से कौन-सी हानि हो सकती है ?" मेरी ये बातें सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। फिर वह अपने घर चला गया और मैं टहलने निकल गया।

मैं घूमकर लौटा ही था कि वह लड़का मुझे बुलाने का आमंत्रण लेकर आ पहुँचा। उसका घर क्या था ! टूटा-फूटा, छोटा-सा घास-फूस का झोंपड़ा, जो मिट्टी की तीन-चार नीची दीवारों पर रखा हुआ था। उसी मुहल्ले में और दरीवालों के भी घर थे, लेकिन उनके घर कुछ अच्छे थे। उसके परिवार में एक छोटी बहन थी और माँ थी। मैंने उससे कहा कि मैं खाना पकाने का स्थान देखना चाहता हूँ। वह मुझे भीतर ले गया। घर में चारों ओर गन्दगी फैली हुई थी, कपड़े और बिस्तरे सभी गन्दे थे, लेकिन खाना पकाने का स्थान लिपा-पुता और स्वच्छ था। बरतन भी साफ दिखाई दिये। मुझे देखते ही उसकी माँ, जो रोटी बना रही थी, हँसकर कहने लगी—"का भइया, तू सब समझत हौ कि हमरे सब बिल्कुल वाहियात गन्दगी कै खाना खाइत है ? भइया, हमरे सब भी मनई होई, हमहूँ नीक बेकार समझित है।"

उस स्थान पर एक मचिया पड़ी थी। मैं उसी पर बैठकर उसकी माँ से बातें करने लगा। वह लड़का भी वहीं चौखट पर बैठ गया। मैंने यह देख लिया था कि रसोई घर अभी-अभी थोड़े ही पहले लीपा गया था और बरतन भी अभी ही साफ किये हुए-से हैं। यह सब स्वच्छता मेरे और उस लड़के के वार्तालाप तथा मेरे यहाँ आने के कारण ही सम्भव हो सकी है। साथ ही नजीर की माँ का सफाई देना भी इसके लिए एक बहुत बड़े प्रमाण की बात थी। मैंने बैठे-ही-बैठे कहा—"क्यों माई, मुझसे झूठ बोलने से क्या लाभ ? मैंने अच्छी प्रकार समझ लिया कि यह सब तुमने अपने बेटे के कहने पर ही किया है।" पहले तो वह इनकार करती रही, किन्तु बाद में उसने स्वीकार किया कि मेरे ही कारण उसने और उसकी लड़की ने लगभग एक घंटे तक परिश्रम करके सफाई

की है। उसने यह भी कहा कि मुझे तो अब तक विश्वास ही नहीं हुआ था कि आप सचमुच मेरे यहाँ खाना खायँगे। तत्पश्चात् उसने रोटियाँ बनायीं और बड़े प्रेम से मुझे खिलाना शुरू किया। इस भोजन में मुझे एक अपूर्व मातृभाव का आभास मिल रहा था। भारतीय स्त्रियों के हृदय में मातृभाव ने इस प्रकार घर कर लिया है कि उन्हें दूसरों के बच्चे भी अपने ही बच्चे जैसे प्रतीत होते हैं।

भारतीय संस्कृति का अवशेष तो हमारी देहात की स्त्रियों में ही मिलेगा। हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो अथवा हरिजन, सबकी भाषा, संस्कार, रंग-रूप, भावना आदि सब एक ही प्रकार के हैं। मैं खाना भी खा रहा था और उस माता से तरह-तरह की बातें भी हो रही थीं। उसने कहा—

भारतीय हृदय की एकता

"भइया, तुहरे अस मनई हमरे घर में खाय, यह तो हम आज तक नाहीं देखेन। हमें तो भइया तुहरे सब जस कहिहौ तस करबै। हमरे ताईं पाहुन ही तो सब कुछ हैं। उनके ताईं त हम सब कुछ करे के तैयार हईं। हमरे घर रोज खाव त रोज हम साफ करीं।" मेरे पास बरतन आदि न थे, इससे दो-एक दिन उसीके घर खाना खाने के लिए कह दिया और आश्रम लौट आया। वह लड़का मेरे साथ-साथ आश्रम तक आया। मैंने उससे कहा कि जब तक हमारा इंतजाम नहीं होता है, तब तक तुम्हारे यहाँ खाना खायँगे और तुमको कुछ पैसा दे दिया करेंगे। लेकिन दूसरे ही दिन टाण्डा के प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता श्री जानकीप्रसादजी मुझे अपने घर पकड़ ले गये। मैंने उस लड़के से कह दिया कि तुम्हारे यहाँ अब मैं खाना खाने नहीं जाऊँगा। दूसरे दिन मैं अकबरपुर चला गया।

अकबरपुर पहुँचकर मैंने अपना टाण्डा का दो-तीन दिन का अनुभव भी बयान किया। दरीवाले के घर खाने की बात सुनकर आश्रम के भाई लोग बहुत नाराज हुए और कहने लगे कि हम ऐसी हरकतों से आश्रम की मर्यादा नष्ट कर रहे हैं। मुझसे उनसे बहुत वाद-विवाद हुआ, किन्तु मैं उनसे सहमत न हो सका। उन लोगों के विवाद में दो बातों की झलक

दिखाई देती थी, एक तो भद्रता की मनोवृत्ति और दूसरी मुसलमानों के घर खाने के विरुद्ध उनका साधारण संस्कार। मैं इन दोनों ही मनोवृत्तियों के विरुद्ध था। छुआछूत का संस्कार मुझमें था ही नहीं, आज से दो-तीन पुश्त पहले ही यह मेरे पूर्व पुरुषों के परिवार से ही समाप्त हो चुका था। श्रेणी-विभेद की मनोवृत्ति भी दो वर्ष के लगातार प्रयत्न से करीब-करीब समाप्त हो चुकी थी। मैं अपने हृदय में सोचने लगा कि आश्रम-जैसी पवित्र संस्था में यदि छोटे-बड़े की मनोवृत्ति कायम रही, तो देश-सेवा तथा ग्राम-सेवा कृत्रिम हो जायगी। इसलिए मुझे कुछ कष्ट भी होने लगा, किन्तु बड़ों की बातों में पड़ने का मेरा अभ्यास नहीं था, इसलिए मैंने अधिक विवाद नहीं किया। किन्तु यह बात दिल में चुभती ही रही और भद्र श्रेणी के मध्यमवर्गीय लोगों के विरुद्ध मुझमें भावनाओं का बनना शुरू हो गया।

एक समय था, जब मैं स्वयं छोटे लोगों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखता था, किन्तु आज उन्हीं छोटों के प्रति, जिन्हें चमक-दमक की सभ्यता प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला और जो सफेदपोश बने रहने के साधन से हीन हैं, अश्रद्धापूर्ण बातें सुनकर दिल को तकलीफ होने लगी। यह परिवर्तन मुझमें तभी सम्भव हुआ, जब मैंने गरीब और निम्न श्रेणी के लोगों को जानने की कोशिश की।

झगड़ों के मूल कारण

वस्तुतः आज श्रेणी-श्रेणी में, जाति-जाति में, धर्म-धर्म में जो झगड़ा चल रहा है, उसका एक प्रधान कारण यही है कि हम सब आज एक-दूसरे को जानने या समझने की कोशिश ही नहीं करते।

अकबरपुर से बरतन आदि सामान लेकर दो-तीन रोज के बाद मैं टाण्डा लौट आया और वहीं पर स्थायी रूप से बस गया। आज यहीं तक। टाण्डा के देहातों में घूमने से मुझे क्या मालूम हुआ, यह दूसरे पत्र में लिखूँगा।

देहातियों के बीच

: ७ :

२३-६-'४१

टाण्डा में एक दिन सूत का बाजार करना पड़ता था, शेष छह दिन देहात जाने का अवसर मिल जाता था। प्रारम्भ में मैं सबेरे ही देहात चला जाता था और शाम होते-होते वापस आ जाता था। मेरा काम केवल चर्खे का प्रचार करना और रुई धुनना सिखाना था, किन्तु मैं देहात के लोगों से तरह तरह की बातचीत किया करता था। अकबरपुर के देहातों में केवल उच्चवर्गीय लोगों से ही मिल पाता था, परन्तु टाण्डा में विशेष-कर किसान-कुर्मी जातियों के साथ ही मिलता-जुलता था, क्योंकि मैंने यह समझ लिया था कि उच्च श्रेणी के लोग मेरी बातों को समझने की कोशिश ही नहीं करते। किसानों के घर में एक प्रकार से स्त्रियाँ ही मालकिन समझी जाती हैं। वे ही घर का और अनाज का सारा प्रबन्ध करती हैं। उनसे मिलने-जुलने से मुझे मालूम होता था कि किसान स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक योग्य हैं। गांधीजी के आर्थिक और सामाजिक प्रोग्राम को वे अधिक समझ सकती हैं। इन्हीं सब कारणों से मैं अधिकतर स्त्रियों में ही अपना प्रचार किया करता था। भारत के उद्धार के लिए सबसे पहले स्त्रियों का उद्धार होना अत्यावश्यक है, क्योंकि घर, गृहस्थी, समाज और भावी सन्तान का प्रबन्ध उन्हींके अधीन है। वे जिस ओर कदम बढ़ायेंगी, उसी ओर मुल्क को जाना पड़ेगा। इस प्रकार की धारणा उसी समय से मेरे अन्दर बैठ गयी थी और वह आज भी वैसी-की-वैसी ही कायम है।

रोज देहात में जाने-आने में अधिक समय खर्च हो जाता था, इसलिए कुछ समय बाद मैं गाँवों में ही टिकने लगा और किसानों के घर ग्रामीण तरीके से रहने लग गया। धौरहरा में मुझे ग्रामीणों के गन्दे

आँगन में या मवेशीखाने के पास के गन्दे चौपाल में मैली चारपाई पर गन्दी तोशक और गन्दी कथरी पर बैठने में घृणा होती थी, उन्हें देखकर ही नाक-भौं सिकोड़ता था। पर अब दो साल के बाद उसी वायुमंडल में उन्हीं वस्तुओं को सहज और स्वाभाविक तौर से इस्तेमाल करने लगा। कभी-कभी ग्रामीण लोग कह उठते थे—"डाक्टर साहब तो बिल्कुल देहाती मनई होय गये!" इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वे अब मेरे साथ निस्संकोच उठने-बैठने लगे और अपनी बातें बताने में किसी प्रकार की झिझक न रखते हुए मुझे भी अपने परिवार का एक सदस्य मानने लगे।

देहात का क्लब

जाड़े के दिनों में देहाती लोग संध्या के समय अलाव के चारों ओर बैठते थे और गप लड़ाते थे। अवध के ग्रामीण 'तप्ता' कहते हैं। मैं रात की इस बैठक को 'तप्ता-समाज' की बैठक कहा करता था। थोड़े ही दिनों में यह शब्द खूब प्रचलित हो गया।

देहात का 'तप्ता-समाज' देहात की पार्लियामेण्ट, अखबार, मंत्रणा-सभा आदि दुनियाभर की सभा-समितियों का एक समन्वित रूप है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं कि जिस पर इस सभा में विचार-विनिमय न होता हो; गम्भीर आध्यात्मिक विषय से लेकर बच्चों के छोटे-मोटे पारस्परिक झगड़ों तक। मैं भी अपने सिर पर एक गमछा बाँधकर उस सभा में शामिल हो जाया करता था और उनकी सभी बातों में दिलचस्पी लिया करता था। 'तप्ता-समाज' के द्वारा देहात को जानने का और अपनी बातों को ग्रामीण जनता के समक्ष रखने का जितना मौका मिला, उतना आज तक किसी भी प्रकार से न मिल सका।

अवध के किसानों की अवस्था इस छोटे-से पत्र में क्या वर्णन करूँ! 'हरी', बेगारी, भूसा, और बेदखली की मार तो इन पर रोज लगी ही रहती है। भूत-भवानी और महामारी आदि का बोझ भी निरन्तर सिर पर लदा रहता है। इस कारण इनकी जिन्दगी में किसी प्रकार का रस

नहीं। जीवन में जब रस ही नहीं, तो स्वच्छता, सभ्यता और सुन्दरता आदि की गुंजाइश ही कहाँ ? फिर भी जो सभ्यता, धार्मिकता और अतिथि-सत्कार आदि बातें ग्रामीण जनता में पाई जाती हैं, उन्हें अलौकिक समझना चाहिए।

अकल्पनीय गरीबी

बेचारे किसानों के कितने ही परिवार महीनों तक आम की गुठली की रोटी खाकर गुजर करते हैं। मैंने देखा है कि इतने पर भी उन्हें ऐसे दिन व्यतीत करने पड़ते हैं, जब कि कुछ भी खाने को नहीं मिलता। कितने ही लोगों को खलिहान का गोबर धोकर अनाज निकालते मैंने स्वयं देखा है। देहात के कितने ही आदमियों के शरीर पर वस्त्र नहीं होता। जाड़े के दिनों में सैकड़ों परिवार चारों ओर दीवारों से घिरे हुए कमरों में आग तापकर रात काट देते हैं। भला हम उनकी गरीबी का अन्दाजा क्या लगा सकते हैं ?

एक दिन टाण्डा के बाजार में मैं रूई से सूत बदल रहा था। सूत बदलने का मैंने यह नियम बना दिया था कि एक गाँव की रहनेवाली बहनों का सूत लेना समाप्त करके ही दूसरे गाँवों की बहनों का सूत लिया करूँगा। टाण्डा से पाँच मील दूर के रामपुर गाँव की सबकी सब बहनें अपना सूत बदलने के बाद भी एक तरफ जाकर बैठी रहीं, सदा की तरह सूत बदलकर घर नहीं गयीं। उस समय संध्या का पूरा प्रसार हो चुका था। मैंने उनसे बैठे रहने का कारण पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि "बाबा सबके गाँव में जाते हैं, हमारे गाँव में कब्बो नहीं गये, आज हमरे सब यही सोचे हैं कि बाबा को लिवाय चलें।" इस स्थान की कत्तिनें आश्रम के सभी लोगों को बाबा कहा करती थीं, जिसका अर्थ था—गांधी बाबा का चेला। उनकी बातें सुनकर मैंने उत्तर दिया कि मैं किसी समय तुम लोगों के गाँव में आ जाऊँगा। इस समय बहुत देर हो गयी है। अभी रूई और सूत वगैरह बोरियों में बन्द करने हैं, खाना बनाना है, इसलिए काफी देर हो जायगी। तुम लोग कब तक प्रतीक्षा करोगी ? मेरी बातों को सुनकर वे सबकी सब एक साथ हँस पड़ीं और कहने लगीं —"का हमारे सब इतना नीबर

रामपुर की बहनों का हठ

हुईं कि दुइ कौर खाये के नाहीं दे सकतीं ! हम तो बिना लिवाये नाहीं चलब ।" अतएव मुझे उसी समय उनके साथ रामपुर गाँव के लिए रवाना हो जाना पड़ा। मैं रास्ते में उनके साथ बातचीत करता जा रहा था और वे सब बड़ी घनिष्ठता के साथ घर और गृहस्थी की बातें कर रही थीं। जब हम रामपुर पहुँचे, तो काफी अँधेरा हो चुका था। वहाँ पहुँचने पर मुझे प्रतीत हुआ कि गाँववालों ने मुझे बुलाने के लिए पहले ही से निश्चय कर लिया था, क्योंकि उनके रंग-ढंग से यह स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि वे लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

मुझे एक सम्पन्न किसान के बरामदे में बैठाकर मेरे साथ कीं बहनें अपने-अपने घर चली गयीं। थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण गाँव में मेरे आने की चर्चा फैल गयी और लोग एक-एक करके मेरे पास इकट्ठे होने लगे। रात में बहुत देर तक बातचीत होती रही और बाद को मैं खाना खाकर सो रहा। मुझे रामपुर गाँव में तीन-चार दिन तक रुक जाना पड़ा। नित्य दोपहर को गाँव की बहनें इकट्ठी होती थीं। मैं उन्हें गांधी बाबा, चर्खा तथा भारतवर्ष की प्राचीन सम्पन्नता के विषय में बहुत-सी बातें बताता और समझाता था। एक बात से मुझे आश्चर्य होता था कि गाँव की बहनें बिना कुछ पढ़े-लिखे भी इस बात से परिचित थीं कि प्राचीन काल में लोग काफी समृद्धिशाली थे और अब गरीब हो गये हैं। वे यह भी जानती थीं कि इसका प्रधान कारण उनकी काहिली और आपस की फूट थी। वे कहा करती थीं "मेहरारू येह साइत शौकीन होइ गयी हैं, तो गृहस्थी में बरक्कत कहाँ से होई। तब के मेहरारू जवन-जवन टहल करत रहीं, तब्बै न दूध-घी खात रहीं।"

'मेहरारू शौकीन होइ गयी हैं'

मैं रामपुर में तीन दिन तक रहा और इस बीच गाँव के हर घर, आँगन और भीतरी भागों में भी घूम-घूमकर देखा करता था और शाम को अलाव ('तसा') के पास बैठकर किसानों से बातचीत किया करता था। एक दिन लोगों ने गांधीजी के विषय में जानने की इच्छा प्रकट

की और मैंने उन्हें बताना शुरू किया और कहा कि गांधीजी देहात के गरीब लोगों के कष्टों को भलीभाँति समझते हैं। इसीलिए वे केवल उतने ही कपड़े पहनते हैं, जितने देहात के लोगों को मिल सकते हैं। गरीबों की तरह ६ पैसा रोज खाने में व्यय करते हैं। उन दिनों गांधीजी की केवल ६ पैसे में भोजन करने की बात काफी प्रसिद्ध हो रही थी—इतने में एक बूढ़ा चमार बोल पड़ा—"हमरे तकलीफ के बराबर उनके कइसन तकलीफ पड़ि गइल। वे जौन चार हाथ के अँगोछा पहिनत हैं और ६

उस बूढ़े के तीर-से शब्द

पैसा रोज खात हैं, उनके फिकिर त नाहीं करे के पड़त है, हमरे सबके त जिन्दगीभर फिकिर लाग रहत है, येही फिकिर में हम सब मरे जात हई। अगर हमरे सबके फिकिर न रहे, तो हमके सोहारी नाहीं चाही, मकुनी धकुनी से हमरे सब ढेर खुश रहित।"

बुड्ढे की बात रह-रहकर मेरे दिमाग में उथल-पुथल मचाने लगी। रात में बड़ी देर तक नींद नहीं आयी और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हम प्रदर्शन और शौक के रूप में कुछ दिनों तक भले ही ग्रामीण जीवन बिता लें, किन्तु उनके वास्तविक कष्टों का सच्चा अनुभव हमें नहीं हो सकता।

इसी तरह मैं चर्खा प्रचार-कार्य के साथ-साथ देहात में घूम-घूमकर ग्रामीण परिस्थितियों का अध्ययन करने लगा और मुझे इस काम में काफी दिलचस्पी भी महसूस होने लगी। ● ● ●

कौन ऊँचा, कौन नीचा ? : ८ :

१०-७-'४१

पिछले पत्र में मैंने रामपुर गाँव में रहने का अपना अनुभव बताया था। उन दिनों उसी तरह कितने ही गाँवों में घूमा करता था। किसान और कुर्मी जाति के लोग ही मेरी बातों को अधिक ध्यान से सुनते थे और हमारे काम से सहानुभूति रखते थे। देहात के मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के लोग कुछ तो मेरा मजाक उड़ाते थे; कुछ डर के कारण मुझसे घनिष्ठता स्थापित नहीं करना चाहते थे। अवध के देहात के इस

पतनशील उच्च वर्ग

श्रेणी के लोग तो इस सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार की मनोवृत्ति रखते थे। एक समय था, जब यही लोग समाज का नेतृत्व करते थे; सभ्यता, कला और शिक्षा का इनमें पूर्ण प्रचार था। इसलिए यही लोग भारतीय शिष्टाचार के अधिकारी भी थे, किन्तु आज न तो ये देहाती रह गये हैं और न शहरी। गरीब हो जाने के कारण शिक्षा के अवसर हाथ से निकल चुके हैं। उदारता भी समाप्त हो चुकी है, फिर भी अपने बड़प्पन का अभिमान उनमें कूट-कूटकर भरा है। यही कारण है कि ये लोग शहर के लोगों की नकल करने की कोशिश में लगे रहते हैं, क्योंकि गाँववाले लोग शहरवालों को ऊँचा समझते हैं। इस नकल करने में अपनी अयोग्यता के कारण उनकी अच्छी चीजों की तो नकल नहीं कर पाते हैं, किन्तु उनके अभिमान, उनकी हृदयहीनता, छोटों के प्रति घृणा तथा शृंगार आदि बातों को तोड़-मरोड़कर भद्दे तरीके से नकल कर लेते हैं, जिससे वे **'गाँव में'** रहते हुए भी **'गाँव के'** नहीं रह जाते। इसलिए जब मैं देहात के सम्बन्ध में कोई बात करता था, तो वे उसे मजाक के रूप में ही ग्रहण करते थे। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि इन लोगों में चर्खे का प्रचार हो जाय और ये गांधीजी

की बात समझ लें, किन्तु ये लोग मेरी कोई भी बात सुनने के लिए तैयार न हो सके। इनके यहाँ हरएक घर में अक्सर एकाध व्यक्ति बेकार रहते हैं, किन्तु वे कोई भी काम करने को तैयार नहीं हो सकते। अपना छोटे से भी छोटा काम मजदूरों से ही कराते हैं।

जब ग्रामीण लोग एक साथ मिलकर कहीं बैठते हैं, तो संसार के समस्त विषयों की आलोचना किया करते हैं—जिसमें धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक, सभी विषयों का सन्निवेश रहता है। किन्तु यह मध्यम श्रेणी के अपने को श्रेष्ठ समझनेवाले लोग जब कहीं इकट्ठा होते हैं, तो या तो उनमें पट्टीदारी के झगड़ों की बात होती है अथवा दुनियाभर की दुर्नीति और अश्लीलता की चर्चाएँ छिड़ती हैं। उनकी बात सुनने से यह आभास मिलता है कि ये लोग अपनी गोष्ठी के लोगों के अतिरिक्त संसार के सभी लोगों को चरित्र-हीन समझते हैं। मेरा यह भी अनुभव है कि ये लोग बहुत सुस्त और काहिल हुआ करते हैं।

दोनों श्रेणियों का अन्तर

एक दिन देहात में घूमते हुए टाण्डा से १६ मील दूर हँसवर के पास एक गाँव में पहुँचा। शाम हो चुकी थी, इसलिए मैंने सोचा कि इसी गाँव में रातभर के लिए टिक जाऊँ। उस दिन से पहले मैं टाण्डा से इतनी दूर के गाँव में कभी नहीं आया था। उसी गाँव के एक आदमी से पूछा कि इस गाँव में कौन लोग रहते हैं। जवाब मिला—"पचीस घर भलमनई और बाकी सब चमार-सियार।" भलमनई का अर्थ था ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के लोग। इसी एक वाक्य से तुम समझ सकती हो कि देहात के ये बड़े लोग छोटी जातियों को किस नजर से देखते हैं। खैर! मैंने कोशिश की, इन भलमनइयों में से किसीके घर टिक जाऊँ, किन्तु मुझे टिकाने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ। मार्च का महीना था, इसलिए मैं निश्चिन्त होकर गाँव के बाहर ही एक पक्के कुएँ की जगत पर लेट गया। कहीं निकट में बाजार न होने के कारण उस रात खाना भी न खा सका! सन्ध्या

भलमनइयों द्वारा उपेक्षा

रात्रि में परिणत हो चुकी थी, चाँदनी निकल आयी थी, मुझे वह स्थान बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ।

मैं करीब-करीब सो गया था, इतने ही में थोड़ी दूर पर आम के बाग से एक स्त्री ने पुकारा—"कुएँ पर के है हो?" मैं उस गाँव से कुछ खीझ-सा गया था, कुछ कर्कश स्वर में उत्तर दिया—"मनई होई, मनई।" इतने में वह स्त्री नजदीक आ गयी और "कहाँ घर है?" इत्यादि पूछने लगी। मैंने उसको सारा किस्सा कह सुनाया। सब हाल सुनकर वह बहुत दुखी हुई और उस गाँव के ठाकुरों को कोसने लगी और कहने लगी—"हमरे घर चल, सीधा-लकड़ी कै इन्तजाम कै देत हई, बनाव खा।" मैं सोलह-सत्रह मील चलकर देहात में प्रचार करते हुए वहाँ पहुँचा था। भूख बहुत जोर से लगी थी। मैं उस बहन के साथ उसके घर चला गया। वहाँ जाकर देखा कि उसका घर वास्तव में कोई घर नहीं था। केवल एक छोटी-सी झोपड़ी थी, जिसकी माप ६×१२ फुट थी। तीन हाथ ऊँची और एक फुट चौड़ी मिट्टी की दीवार किसी तरह सरपत और खर से ढँक दी गयी थी, किन्तु उसके भीतर चाँद का प्रकाश छत से छनकर सम्पूर्ण घर में फैला हुआ था। छोटा-सा दरवाजा पटुए के डंठल और पलाश के पत्तों के टट्टर से ढँका हुआ था। उसके आसपास कोई घर नहीं था। दरवाजे के सामने की जमीन काफी दूर तक लिपी हुई थी। उस पर एक बूढ़ा बैठकर तम्बाकू पी रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटी-सी लड़की एक छोटे-से बच्चे के सिर पर घास और मिट्टी डाल रही थी और हँस रही थी। शायद वही उसके खेल की सामग्री थी।

मेरे पहुँचते ही उस बहन ने धान के पयाल का एक 'बीड़ा' लाकर दिया और पूछने लगी—"लोटा-सोटा कुछ बाय?" मेरे पास एक झोला था, किन्तु उसमें लोटा नहीं था। "लोटा नहीं है" यह सुनकर वह बहुत परीशान हुई और कुम्हार के घर से कुछ बरतन और हँड़िया लाने के लिए रवाना हो गयी। मैं उसके इस व्यवहार से समझ गया कि वह किसी नीच जाति की है और इसीलिए इतनी परीशान हो रही है। मैंने उसे पुकारकर

कह दिया कि मुझे तुम्हारे बर्तन में खाना खाने में कोई भी हिचक नहीं है।

उन दोनों के हृदय का अमृत

यह सुनकर उसे अपार प्रसन्नता हुई और वह दौड़-दौड़कर मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध करने लगी। मैंने उससे यह भी कह दिया था कि मुझे तुम्हारे हाथ का पका हुआ भोजन करने में भी कोई एतराज नहीं है। उसकी तत्परता, प्रेम और सद्भावनाओं को देखकर मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं सचमुच अपनी बहन के घर आ गया हूँ।

अब तक उस बुड्ढे ने कुछ नहीं कहा था और निश्चिन्त होकर इस तरह तम्बाकू पी रहा था, मानो उसके दरवाजे पर कोई नयी बात हुई ही नहीं। इस प्रकार की निश्चिन्तता मैंने देहात की मजदूर श्रेणी के लोगों में प्रायः देखी। उसके सामने से चाहे—कोई आये या जाये, उसके प्रति वे कोई विशेष ध्यान नहीं देते। हजारों वर्षों से समाज में दलित अवस्था में रहने के कारण उन्हें दुनिया के बारे में कोई दिलचस्पी ही नहीं रह गयी। जब उस बहन ने आग जलायी, तब उसने तम्बाकू पीते हुए पुकारकर पूछा—"का रे, का बात है ?" इस पर वह स्त्री हँस पड़ी और कहने लगी—"बूढ हैं गया, कुछ सूझत नांहीं।" जब उस बुड्ढे पर यह प्रकट हो गया कि वह मेरे निमित्त खाना बनाने जा रही है, तो वह सिर हिलाकर कहने लगा कि मैं ऐसी बात नहीं होने दूँगा। "भला ठाकुर लोगन कै खबवा तुही सब बना दिहो तो कुल उच्छिन्न न होइ जाई ?" मुझे भूखा जानकर और मुझसे बात करने के बाद उस स्त्री में जो प्रेम और उदारता की भावना जाग्रत हो उठी थी, उसने उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि मेरे एतराज न करने पर भी उसे एतराज करना चाहिए।

मैंने उस बुड्ढे को समझाने की बहुत कोशिश की, किन्तु वह किसी तरह तैयार नहीं होता था। अन्त में मैंने कहा कि यदि नहीं खिलाओगे, तो भी कोई चिन्ता नहीं है, मैं रातभर यहीं सोया रहूँगा और सबेरे चला जाऊँगा। वह बहन अब तक खड़ी होकर हमारी

और उस बुड्ढे की बातें सुन रही थी। मेरी अन्तिम बात सुनकर बोल उठी कि "रहे दो बाबा, हमारे मोहारे पर केहू भूखा नाहीं परा रहे; हम तो बनाय के जरूर खियाउब।" इस पर उस बुड्ढे ने अत्यन्त अप्रसन्न होकर अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और फिर तम्बाकू पीने लगा। जंगल की वह देवी खाना बनाने लगी और मैं घास का 'बीड़ा' उठाकर उसी तरफ जाकर बैठ गया और उससे उसकी अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगा।

उसकी जाति पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे लोग वनमानुप कहते हैं।

वनमानुष भी कोई जाति है, यह मुझे अब तक मालूम नहीं था। वे लोग गृहस्थों को ढाक का पत्तल बनाकर दिया करते हैं और उसके बदले में जो कुछ अनाज मिल जाता है, उसी पर जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। उसके पास न घर था, न जमीन थी, एक छोटी-सी झोपड़ी थी, जिस पर थोड़ा-सा सरपत और खर रखा हुआ था, जिससे बारिश की रोक नहीं हो सकती थी। किन्तु वर्षाकाल में क्या होगा, इसके लिए अभी से चिन्ता करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। वे ईसामसीह के इस उपदेश का कि "कल की चिंता न करो" पूरा-पूरा अमल करनेवाले प्रतीत होते थे। उस स्त्री की अवस्था देखने में लगभग २०-२२ वर्ष की मालूम होती थी। वह काफी स्वस्थ थी। बुड्ढा उसका बाप था और एक लड़का और एक लड़की उसकी सन्तान थे। उसका पति एक वर्ष पूर्व मर चुका था। इस जाति में दूसरा पति कर लेने का विधान होते हुए भी वह दूसरे के घर नहीं जाना चाहती थी। मेरे पूछने पर उसने उत्तर दिया—"भगवान् ने तकदीर बिगाड़ दी, तो भला हमारे जोड़ने से किस तरह जुड़ सकती है?" फिर मैंने इस विषय पर उससे कोई भी बात नहीं की।

अगर तुम उस बहन को देखो, तो आश्चर्य में डूब जाओगी। अकथनीय अपार दरिद्रता से पिसते हुए और समाज के अत्याचार से दलित

रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता, सर्वथा हँसमुख रहने की इतनी क्षमता, इतनी बुद्धि और इतना शिष्टाचार कहाँ से आया ? खाना खाने के पश्चात् मैं एक कमली बिछाकर लेट गया और सोचने लगा कि गाँव के 'भलमनई' अधिक ऊँचे हैं या 'वनमानुष' ? साथ ही भारतीय स्त्री के हृदय की थाह लगाने की कोशिश करने लगा, तो मालूम हुआ कि वह अगम और अथाह है ।

दरिद्रता की चक्की उनकी मानवता को पीसने में असमर्थ है

इनका स्नेह और इनका प्रेम किसी जात-पाँत का विचार नहीं रखता । संसार की कोई भी वस्तु नारी-धर्म के रास्ते का रोड़ा नहीं हो सकती । यह है गन्दे, फटे चीथड़े से लिपटी हुई हमारे भारत की ग्राम-वासिनी ।

दूसरे दिन सबेरे उठकर उस बहन के प्रति महान् कृतज्ञता प्रकट करके और उसके बच्चों को प्यार करके मैं टाण्डा वापस चला आया । चलते समय मैं उन्हें कुछ पैसा देना चाहता था, किन्तु उसने ऐसा जोरदार विरोध किया कि फिर कुछ कहने का मेरा साहस नहीं हुआ । आते समय केवल इतना ही कह सका कि "बहिनी, आज का दिन हम नाहीं भूलब ।" उसने सिर नीचा करके जवाब दिया—"अइसन भाग हमार कब होइ सकत हैं ।" पन्द्रह साल बाद १९३८ में जब मैं हँसवर गया था, तो मैंने उस बहन का पता लगाने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु शोक है कि उस बहन का कुछ भी पता न लग सका । उस दिन की घटना मुझे जीवन-पर्यन्त नहीं भूलेगी ।

कौन सभ्य ? कौन असभ्य ?

२२-७-'४१

एक माह के करीब हो गया। मैं इधर कुछ लिख नहीं सका। उस रोज मैंने वनमानुष के घर में रात बिताने की कहानी बतायी थी। बात तो छोटी थी, लेकिन वह मेरे लिए बड़े महत्त्व की थी। अगर संस्कृति को ही कसौटी मान लिया जाय, तो हमारे देहात के नीच-से-नीच वनमानुष भी शहर के लाखों-करोड़ों सुशिक्षित जनों से अधिक सुसंस्कृत हैं, ऐसी धारणा मुझमें दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती गयी, और साथ ही शहर की छुरी-काँटा, चम्मचवाली, ऊपर से पॉलिश की हुई सभ्यता के प्रति घृणा पैदा होती गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि बेवकूफ, गन्दे, असभ्य और दीन ग्रामवासी शहर के तथाकथित उच्च श्रेणी के लोगों से कहीं अधिक ऊँचे हैं। मेरे मन में यह धारणा तो आजकल के गिरे हुए देहात को देखकर हुई, पता नहीं कि जिस दिन गाँव सभ्यता के उच्च शिखर पर थे, उस दिन वे लोग किस प्रकार के रहे होंगे।

इन शहरियों से वे अधिक संस्कृत हैं

सवेरे वनमानुष के घर से निकलकर टाँडा की ओर चला, तो मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। मैं सोचने लगा कि ये वनमानुष कौन हैं, कहाँ से आये, कैसे बस गये ? गाँव से बाहर जंगल में एक ही घर का होना भी आश्चर्य की बात थी। आखिर इनके पूर्वपुरुष भी कोई होंगे ही ? उस बुड्ढे की बिरादरीवाले सब कहाँ गये ? उसका घर देखने से मालूम होता था कि उसने अस्थायी झोंपड़ी बनायी है, लेकिन उसकी बातचीत से मालूम होता था कि वे कई साल से यहीं पर बसे हुए हैं। यदि स्थायी रूप से ही यहाँ रहना था, तो टिकाऊ घर क्यों नहीं बना लिया ?

ऐसे सैकड़ों प्रश्न दिमाग में उठने लगे। किन्तु मैं इन प्रश्नों को पूछता किससे ? रास्ते में था ही कौन ? रात के समय जब उस वनमानुष

की लड़की से बातचीत कर रहा था, तब उसके शिष्टाचार से ही तबीयत इतनी भर गयी थी कि ये सब बातें दिमाग में आ ही नहीं सकीं। काफी दूर रामपुर गाँव के पास एक चमार मिला, जिसने मुझे पहचानकर 'जयरामजी' की। उसकी बातों से ज्ञात हुआ कि वह रामपुर का रहनेवाला है। रामपुर गाँव में मैं कई बार जा चुका था, घर-घर घूम चुका था, इसलिए वह मुझसे काफी घनिष्ठतापूर्वक बातें करने लगा। उससे मालूम

वनमानुषों के विषय में

हुआ कि वनमानुष चमारों से नीचे की जाति है। उनका छुआ हुआ पानी चमार लोग भी नहीं पीते। अर्थात वे अछूतों के भी अछूत हैं। वे जंगलों में ही बसते हैं। उस चमार से बात करते-करते रामपुर गाँव पहुँचा और दोपहर हो जाने के कारण वहीं के एक कुर्मी किसान के यहाँ टिक गया। खाना खाने के बाद जब बाहर के बरामदे में आ बैठा, तो गाँव के और कई व्यक्ति भी बात करने आ बैठे। मैं उन लोगों से वनमानुष के विषय में बातचीत करने लगा। रात को उसके घर में टिकने की बात सुनकर लोग बहुत घबडाये तथा उस किसान को, जिसने मुझे खाना खिलाया था, नाराज होकर उसे भला बुरा कहने तथा गाली देने लगे।

मैंने उनको 'आदमी-आदमी सब एक हैं' इसका सिद्धान्त समझाने की कोशिश की, किन्तु छुआछूत का संस्कार इतना प्रबल था कि मेरा सारा समझाना व्यर्थ हो गया, और वे लोग उन वनमानुषों को बुरा-भला कहते ही रहे। उनसे ज्ञात हुआ कि वनमानुष जाति के लोग गाँव में न रहकर जंगल में ही रहा करते हैं। जिसकी जहाँ गुजर हो जाय, वह वहीं बस जाता है। यदि कभी उन्हें वहाँ पर तकलीफ मालूम होती है, तो दूसरे स्थानों पर चले जाते हैं। कहीं-कहीं दस-बारह घर इकट्ठे भी रहते हैं, किन्तु ऐसी बस्ती किसी बाजार या कस्बे के पास ही होती है; नहीं तो गाँव के सहारे इनका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ये लोग विवाह-शादी इत्यादि खुशी और गमी के अवसरों पर पत्तल बनाकर देते हैं और उसके बदले केवल एक सीधा पाते हैं और पत्तल में जो कुछ जूठन बच जाती है, उसे ले जाते

हैं। इनके पास अपनी कोई खेती-बारी नहीं होती। इसी उच्छिष्ट भोजन से इनकी गुजर-बसर होती है अर्थात् ये लोग सामाजिक और आर्थिक, दोनों दृष्टियों से गाँव की मजदूर श्रेणी के लोगों से भी गिरे होते हैं। शाम को जब लौटकर टाँडा आया, तो वहाँ के लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये लोग प्राचीन अनार्य जाति के एक अंग हैं, जो यहाँ पड़े रह गये हैं। अवध जैसे प्राचीन सभ्यता के केन्द्र पर भी वनमानुष आज 'वनमानुष' के ही रूप में टिके हुए हैं। संसार में यह भी एक बड़े आश्चर्य की बात है।

●●●

वनमानुष और चमार

२४-७-'४१

उन दिनों मैं देहात में वनमानुषों को ढूँढ़-ढूँढ़कर देखने लगा कि वे किस तरह रहते हैं और उनकी आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्थिति कैसी है। मैं जहाँ भी गया, वहाँ उनके उसी प्रकार के गिरे-पड़े घर देखे। मैंने देखा कि वे सब-के-सब काले रंग के होते हैं। किसीके पास कहीं भी एक कट्ठा जमीन नहीं। वे जंगल में ही रहते हैं, बस्ती में कभी आबाद नहीं होते और स्थायी घर कभी नहीं बनाते। गाँवों से अरहर का डंठल और ईख की पत्ती माँगकर बरसात से रक्षा के लिए ऊपर से आड़ कर लेते हैं। उन्हें कपड़े की आवश्यकता भी बहुत कम होती है। देखने में वे बहुत हट्टे कट्टे और स्वस्थ होते हैं; इसलिए मौसमी परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इनके धर्म में एक स्थान पर स्थायी घर बनाकर रहने अथवा बस्ती में निवास करने का निषेध है।

वनमानुषों के विषय में और बातें

गाँवों में जब पत्तल पहुँचाने की आवश्यकता होती है, तो पुरुष ही उसे गाँव में ले जाते हैं। स्त्रियाँ गाँववालों के घर कभी नहीं जातीं। वे या तो पत्तल बनाती हैं अथवा जंगल से सूखी लकड़ियाँ चुनकर लाती हैं, जिन्हें वे बाजारों में बेच आती हैं। इन्हें बहुत-सी जड़ी-बूटियों की जानकारी होती है, जिनसे अनेक प्रकार की बीमारियाँ अच्छी हो सकती हैं। गाँव के लोग इनसे अनाज के बदले में बहुत औषधियाँ ले जाते हैं।

मैं बहुत प्रयत्न करने के बाद भी उन औषधियों के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त कर सका। वे अपनी औषधियाँ किसी दूसरे को नहीं बताते। उन औषधियों से वे कभी-कभी बड़े-बड़े भयानक रोग अच्छे कर देते हैं। एक बार एक मनुष्य को फीलपाँव हो रहा था, जिसकी दवा के लिए एक वनमानुष ने एक सफेद रंग की जड़ लाकर दी। उसके

लेप से वह रोग अच्छा हो गया। इसी प्रकार एक मनुष्य का 'कारबंकल' रोग भी एक वनमानुष ने अच्छा कर दिया था। वह एक प्रकार की लता पीसकर उसकी पुलटिस बाँधता था। ये दोनों घटनाएँ मेरे सामने की हैं। इन लोगों को भूत-प्रेत का कोई भी भय नहीं है। ये अपने बच्चों का विवाह बहुत छोटी आयु में ही कर देते हैं। विवाह में किसी प्रकार की धूम-धाम नहीं होती। इन लोगों में भी एक पुरोहित होता है। ये ही पुरोहित लोग दो-चार कुटुम्बियों की उपस्थिति में विवाह करा देते हैं। वधू-पक्ष के लोग वधू को ही वर के घर ले जाकर विवाह कराते हैं।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि इनकी स्त्रियाँ गाँव की उच्च जाति के घरों में काम करने नहीं जातीं, इसलिए इनका नैतिक चरित्र ऊँचा होता है। देहात में यह प्रायः देखा जाता है कि निम्न श्रेणियों की स्त्रियों का नैतिक चरित्र प्रायः ऊँचा होता है। चरित्रहीनता केवल उच्च श्रेणी के लोगों में ही होती है। वनमानुषों का उच्च श्रेणी के लोगों से सम्पर्क ही नहीं होता, तो फिर उनमें चरित्रहीनता की बातें हो ही कैसे सकती हैं ? इनमें एक जातीय पंचायत होती है, जो इनके हर प्रकार के झगड़ों का निबटारा करती है। ये अपना झगड़ा तय करने के लिए दूसरे के पास नहीं जाते। इनकी आबादी बहुत कम है। कहीं-कहीं पाँच-छह गाँवों के बीच दो-एक घर दिखाई देते हैं। लेकिन जब कभी इनकी जातीय पंचायत होती है, तो बहुत दूर-दूर के लोग वहाँ पहुँच जाते हैं। मेरा अनुभव है कि ये लोग बहुत सुस्त और काहिल होते हैं। मैंने इन्हें बेकार देखकर इनमें चर्खा-प्रचार की कोशिश की, किन्तु इसके लिए ये तैयार नहीं हुए। इनका कहना था कि वे काफी सुख से हैं, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। अधिक पैसा कमाने से क्या लाभ ? मैंने इन्हें विचित्र सन्तोषी पाया। वनमानुष बापू के अपरिग्रही का नमूना मालूम होता है। हाँ, यह अपरिग्रह बेहोशी में ही है। मुझे आज तक किसी भी जाति ने चर्खा न कातने के लिए ऐसा सीधा और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया था। सभी लोग चर्खा न कातने के लिए कुछ बहाना बनाते हैं, किन्तु इस

जाति में चर्खा चलाने के सम्बन्ध में सफलता न पाने पर भी इनका सीधा सच्चा व्यवहार मुझे बहुत पसन्द आया।

कुर्मियों में चर्खे का खूब प्रचार हो चुका था और उनके साथ मेरी काफी घनिष्ठता भी हो गयी थी। इसी सिलसिले में मैं गाँव के चमारों के बीच भी कुछ काम करने लगा था। इस जाति के लोग साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों के यहाँ मजदूरी करते हैं। कुर्मी जाति के बड़े किसान भी इनसे मजदूरी का काम लेते हैं। अवध के देहात में सबसे बड़ी आबादीवाली जाति यही है, जो अछूत श्रेणी में गिनी जाती है। मैंने विचार किया कि इस जाति में भी चर्खे का प्रचार करूँ, क्योंकि समाज में इसके समान दबी हुई जाति दूसरी नहीं है। अवध ताल्लुकेदारी का प्रान्त है। इन ताल्लुकेदारों का सारा भार इन्हीं गरीबों को उठाना पड़ता है। इनका आधे से अधिक समय बेगारी में जाता है। ताल्लुकेदारों के यहाँ कोई भी काम होता है, तो इन्हींको पकड़कर बेगार ली जाती है। सरकारी अफसरों का दौरा भी इन लोगों के लिए एक बहुत बड़ी आफत है, क्योंकि उनका, उनके सिपाहियों का तथा उनके खैरख्वाहों का सारा काम इन्हें बेगारी में ही करना पड़ता है। बेगारी करते-करते इन लोगों के स्वभाव में एक विचित्र प्रकार की काहिली, सुस्ती और लापरवाही आ गयी है। इनको जीवन में किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गयी है। मैंने चमारों को ताल्लुकेदारों की जमीन पट्टे पर लेकर स्वतंत्र रूप से खेती करते हुए नहीं देखा। फैजाबाद जिले में इतने दिनों तक काम करता रहा, किन्तु इस अवधि में मुझे फैजाबाद से ११ मील दूर कुतुबपुर नाम का केवल एक ही गाँव ऐसा मिला, जहाँ के चमार ताल्लुकेदारों के सीधे काश्तकार हैं और दूसरे की मजदूरी नहीं करते। इतने दिनों तक दबे रहने के कारण इन्हें अपने जीवन के प्रति किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गयी है। ऐसी परिस्थिति में वे काश्तकारी कैसे कर सकते हैं? फिर भला चर्खा चलाने की बात ही क्या है! इसके अतिरिक्त इन लोगों में घुसकर काम करना भी एक विकट

चमारों की जड़ स्थिति

समस्या है। गरीबी, हुकूमत और अत्याचार की मार खाते-खाते ये इतने बेहोश हो गये हैं कि इन पर किसी बात का असर नहीं होता। कोई चमार अपने दरवाजे पर बैठा हुआ तम्बाकू पी रहा हो और कोई उसके दरवाजे पर जाकर खड़ा हो जाय, तो जब तक वह उसे पुकारकर कुछ कहे नहीं या उसके किसी सामान पर हाथ न लगाये, तब तक वह वैसे ही तम्बाकू पीता रहेगा, मानो उसके दरवाजे पर कोई आया ही नहीं है। पूछने पर भी वह वैसे ही तम्बाकू पीते हुए दो-एक शब्दों में उत्तर देकर चुप हो जायगा।

ऐसी पिछड़ी हुई जाति के बीच जाकर लोगों से बातचीत करना, परिचय प्राप्त करना तथा उनमें किसी प्रकार के प्रोग्राम की चर्चा चलाना बड़ा कठिन काम है। मैंने अनुभव किया कि इन लोगों से चर्खा चलवाने की अपेक्षा पत्थर कूटकर उसमें से रस निकालना कहीं अधिक आसान है। ये तो किसीसे बात ही नहीं करना चाहते। मैं सोचता था कि यदि इनमें चर्खे का प्रचार हो जाय, तो कुछ अंशों में इनकी बेकारी भी दूर हो जाय और एक स्वतन्त्र उद्योग का सहारा मिल जाने से इनमें उच्च श्रेणियों के दमन और अत्याचार का विरोध करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाय। किन्तु एक तो यह समस्त जाति ही बेहोशी का शिकार हो गयी है, दूसरे उच्च श्रेणी के लोग सदा इस प्रयत्न में रहते हैं कि ये किसी स्वतन्त्र व्यवसाय में न लग सकें।

मुझे इन बातों का अनुभव कैसे हुआ, इसकी कहानी अगले पत्र में बताऊँगा। मैं धीरे-धीरे चर्खा चलवाने के लिए इनसे परिचय प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। किसी प्रकार की विशेष सफलता न मिलने पर भी हिम्मत नहीं हारता था और किसी-न-किसी बहाने इनके बीच जाकर बैठ जाता था और इनसे बातें करने लगता था। ● ● ●

चमारों का हालत

२६-७-'४१

मैं यह तो लिख ही चुका हूँ कि चमारों के बीच काम करना बड़ा कठिन है। इन चमारों की परिस्थिति को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि इनमें चर्खा चलाना नितान्त आवश्यक है। मैं यूरोप और अमेरिका की प्राचीन दास-प्रथा के विषय में पढ़ता था और उससे बहुत घबराता था। किन्तु यहाँ तो विचित्र दशा है। यद्यपि अवध के मजदूर कानूनन किसी भी प्रकार अपने मालिक के दास नहीं होते, फिर भी उनकी विवशता ने उन्हें उन दासों से भी गयी-बीती अवस्था में डाल दिया है। उन दासों के पास यदि कोई स्वतन्त्र साधन नहीं था, तो उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी नहीं था। उनके अस्तित्व का उत्तरदायित्व उनके मालिकों पर होता था। किन्तु इन चमारों का स्वतंत्र अस्तित्व तो होता है तथा अपने परिवार की जिम्मेदारी भी होती है; किन्तु इनके पास इस जिम्मेदारी को निभाने का कोई साधन नहीं होता। मालिक अपनी आवश्यकता पर इन्हें कोई काम देता है, जरूरत न हुई, तो नहीं देता। ऐसे समय वे क्या खायें, इसकी जिम्मेदारी मालिक पर नहीं है। जरूरत पर काम करते समय भी इन चमारों को इसका कोई भी भरोसा नहीं रहता कि काम पूरा हो जाने के बाद उन्हें पूरी मजदूरी मिलेगी।

परमुखापेक्षी जीवन

रामपुर गाँव की ओर का एक चमार स्वयंसेवक का काम करता था और वह कभी-कभी आकर मेरे पास बैठता था। वह मुझसे गांधीजी तथा कांग्रेस के विषय में प्रायः पूछा करता था। मैं भी चमारों से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने के लोभ में कभी-कभी इसके घर टिका करता था। उसके और उसकी टोलीवालों के साथ संध्या समय बातचीत करते हुए मुझे यह मालूम हुआ कि जब जमींदारों का आपसी बँटवारा होता है, तो

उनकी संम्पत्ति व जानवरों के साथ-ही-साथ चमारों का भी बँटवारा हो जाता है। इस बँटवारे में कौन किधर रहेगा, इस विषय में चमारों को सम्मति देने का कोई भी अधिकार नहीं है। जिसकी राय से सब सम्पत्ति बँटती है, उसीकी राय से सब चमार भी बँट जाते हैं। प्राचीन काल में गुलाम भी तो इसी प्रकार बाँटे जाते थे। ये लोग यह सारा अत्याचार चुपचाप इसलिए सहन कर लेते हैं कि जमींदारों के अतिरिक्त जीवित रहने का इनके पास कोई भी दूसरा स्वतंत्र साधन नहीं है। इसीलिए मेरी यह धारणा थी कि चर्खा चलाने की सबसे अधिक उपयोगिता इसी जाति के लिए है।

गुलामों की भाँति बँटवारा

उन दिनों मैं देहात में घूमा करता था। दो-दो, तीन-तीन दिन तक देहात में टिकने का मौका आता था, तो यथासम्भव मैं चमारों के यहाँ ही टिकने की कोशिश करता था, क्योंकि मैं समझता था कि काफी घनिष्ठता हो जाने पर ही इन्हें चर्खे की तरफ लाने में सफल हो सकूँगा।

चमारों की बस्ती आमतौर से गाँव के दक्खिन मुख्य बस्ती से थोड़ी दूर हटकर होती है। इन्हें इतनी कम जमीन में इतनी अधिक संख्या में बसने को बाध्य किया जाता है कि इन्हें बहुत छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर एकदम सट-सटकर रहना पड़ता है। ये लोग अपने लिए ठीक ढंग से आँगन नहीं छोड़ सकते। फल यह होता है कि इनका सारा काम अत्यन्त छोटी जगह में होता है, जहाँ गन्दगी और पानी आदि के निकलने का कोई रास्ता नहीं होता। इनका टोला बहुत गन्दा और बदबूदार होता है। इस गन्दगी के लिए लोग मजबूर हैं, क्योंकि इन्हें साफ रहने के लिए समाज ने कोई साधन ही नहीं छोड़ा है। इधर जब से गांधीजी ने हरिजन-आन्दोलन चलाया, तब से शहर के पढ़े-लिखे देशभक्त बाबू लोगों में कभी-कभी देहात के हरिजन-टोलों की सफाई करने का फैशन चल पड़ा है। वे झाड़ू लेकर गाँव में जाते हैं और उनकी गलियों को साफ करते हुए गम्भीरता के साथ उन्हें

गंदगी का कारण

साफ रहने का उपदेश दिया करते हैं; और कभी-कभी सफाई करती हुई अवस्था का फोटो खिंचवाकर ले जाते हैं; कभी-कभी पत्रों में भी अपना वक्तव्य दे दिया करते हैं। मैं जब समाचार-पत्रों में इस प्रकार के कार्यक्रम के विषय में पढ़ता हूँ या कभी मित्रों को ऐसे कार्यक्रम में जुटे देखता हूँ, तो हँसी आती है। भला हरिजनों की गलियों को साफ करने से क्या सफाई हो सकती है? पानी को निकास का मार्ग न मिलने के कारण उनके घरों में तथा आँगन में न जाने कब की सील सड़ती रहती है। गलियाँ तो उनसे कुछ साफ ही रहती हैं। कम-से-कम बरसात का पानी तो उनसे बह ही जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य मौसमों में धूप भी मिल जाती है। वर्षों तक एक ही तकिया और एक ही कथरी इस्तेमाल करते-करते उनमें कितना पसीना, बच्चों का पेशाब, तेल और मैल जमा हुआ है, इसकी खबर इन सुधारक भाइयों को नहीं रहती।

यदि हम वास्तव में हरिजनों के बीच काम करना चाहते हैं, तो हमें किसी-न-किसी तरह उनकी आर्थिक दासता को ढीला करना है तथा उनकी बेहोश प्रकृति में चैतन्य का प्रसार करना है।

मूल समस्या

नहीं तो चाहे कितना भी सफाई करने का एवं कुएँ बनवाने का तथा उनके बच्चों को वजीफा देकर उन्हें शिक्षित बनाने का कार्य किया जाय, वे जीवन-यापन के मानवीय साधनों के अभाव में ज्यों-के-त्यों रह जायँगे। उनके दरवाजे और गलियाँ साफ की जायँ, तो वे अपने चिर-अभ्यस्त बच्चों से टट्टी करा देंगे। यदि कुआँ बनवा दिया जाय, तो वे उसके बनने के सालभर के भीतर ही उसकी दीवार और जगत की सारी ईंटें उखाड़कर घरों में चूल्हे आदि बना लेंगे और जिन बच्चों को वजीफा देकर पढ़ाया जायगा, वे अपने माता-पिता एवं कुटुम्बियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे तथा अपनी और अपने परिवारवालों की जिन्दगी भारस्वरूप बना देंगे। चमारों के घरों में रहने का मुझे जितना अवसर मिला है, उससे मैंने अनुभव किया है कि वे भी गन्दगी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा अपनी साधनहीन दशा में जहाँ तक सम्भव

होता है, वे अपने को तथा अपने घर-द्वार को साफ रखने का प्रयत्न करते हैं। उनके बर्तनों को तो प्रायः मैंने ब्राह्मण और क्षत्रियों के बर्तनों से भी अधिक साफ देखा है। वे काहिल तो होते हैं, किन्तु काहिली भी तो जीवन से निराशा के कारण ही उत्पन्न होती है।

मैं उनके घरों में जाता था, उनके बच्चों से खेलता था, स्त्री-पुरुषों से बातें करता था, किन्तु अपार प्रयत्न करने पर भी मैं उनके जड़ दिमाग पर जरा भी प्रभाव न डाल सका। प्रत्युत मैंने यह अनुभव किया कि वे मुझसे कुछ घबड़ाते-से थे। वे मुझे खाना प्रायः पत्तल में खिलाया करते थे। पहले तो मैं यह समझता था कि बर्तन के अभाव में वे ऐसा करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे यह मालूम हो गया कि वे जान-बूझकर मुझे अपना बर्तन नहीं देते, क्योंकि बर्तन देने से उनकी जाति जाने का भय था। वे मानते हैं कि ऊँची जाति के किसी आदमी को कोई चमार अपने घर खाना खिला दे, तो उस खिलानेवाले के बराबर भ्रष्ट संसार में कोई नहीं हो सकता है। मैं समझने लगा कि इनसे तो वनमानुष ही अच्छे हैं।

कुर्मियों की स्त्रियाँ हमारे काम में खास दिलचस्पी रखती थीं। वे मुझे अपने गाँवों में बुला ले जाती थीं। मेरे वहाँ पहुँच जाने पर सब इकट्ठी होकर पूछती थीं कि गांधी बाबा कहाँ हैं, वे क्या करते हैं, क्या खाते हैं, किस तरह रहते हैं, इत्यादि। कांग्रेस के विषय में, बाबा रामचन्द्र के विषय में, हाकिम-अमला-वकील आदि के विषय में वे प्रश्न किया करती थीं। किन्तु चमारों की स्त्रियों में किसी प्रकार की चेतनता देखने में नहीं आती थी। पुरुष लोग तो कुछ विषयों पर बातचीत कर लेते थे। मैं जब उनके घर टिकता था, तो खाना भी लाकर खिलाते थे। उनकी स्त्रियों से मैं बातचीत तो अवश्य कर लेता था, किन्तु उस बातचीत में कोई जीवन न होता था। बहुत दफा ऐसा लगता था, मानो उन्हें पता ही नहीं था कि मैं उनके घर पर टिका हुआ हूँ। मैं परीशान था कि जब तक मैं स्त्रियों से भलीभाँति परिचय नहीं कर लूँगा, तब तक उनसे चर्खा कैसे चलवाऊँगा। सोचते-सोचते मैंने एक तरीका निकाल

ही लिया। मैंने इनके बच्चों से घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी। पहले

बच्चों से परिचय

जब बच्चों को बुलाने की कोशिश करता था, तो वे सब-के-सब ऐसी तेजी से भागते, मानो कोई शेर उन्हें खाने दौड़ा हो, जो बच्चे पीछे छूट जाते थे, वे चिल्लाकर रो पड़ते थे। किन्तु धीरे-धीरे बच्चों से मेरा परिचय बढ़ने लगा। मैं उन्हें कागज की नाव आदि बनाकर दे दिया करता था। कभी-कभी मिट्टी के फल और हाथी-घोड़े आदि बना दिया करता था।

बच्चों के बहाने धीरे-धीरे स्त्रियों से भी मेरा परिचय होने लगा। अब वे पहले की तरह जड़ता का भाव नहीं रखती थीं। जब मैंने उनके बच्चों को अपने पक्ष में कर लिया, तो वे मुझसे खूब बा` करने लगीं। ऐसा इसलिए नहीं कि उन्हें मुझमें दिलचस्पी हो गयी थी, बल्कि इसलिए कि वे मेरे मुँह से अपने बच्चों की प्रशंसा सुनना पसन्द करती थीं। मेरे बैठने के लिए चारपाई आदि निकाल देने लगीं।

उस समय फसल कट चुकी थी। मैंने उनसे चर्खे की बात करने का यही उपयुक्त अवसर समझा। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद यह अनुभव होने लगा कि जब तक इनके घरों में पावभर भी अनाज मौजूद है, तब तक ये किसी प्रकार का उद्योग करने के लिए तैयार नहीं हो सकते। देहातों में यह कहावत प्रचलित है कि 'चैत में चमार चैताय जात हैं।' इस समय ये किसीकी नहीं सुनते। यह जाति एक विचित्र प्रकार की जड़ जाति है।

चमारों की स्त्रियों से किसी गम्भीर विषय पर बातचीत करना सम्भव नहीं था, इसलिए मुझे उनसे उनके बच्चों और खेती-गृहस्थी के ही सम्बन्ध में बातें करनी पड़ती थीं। इस सिलसिले में ये स्त्रियाँ प्रायः

स्त्रियों का फूहड़ मजाक

बहुत निम्न-कोटि का अश्लील और भद्दा मजाक कर दिया करती थीं। कभी-कभी तो उनके बातचीत करने का ढङ्ग भी अत्यन्त भद्दा हुआ करता था। उनमें से कोई एक स्त्री किसी प्रकार की अश्लील बात कह देती थी और शेष सब-

की-सब एक अत्यन्त भद्दे तरीके से हँस पड़ती थीं। एक तो मुझे इनमें चर्खे का प्रचार होना असम्भव प्रतीत होता था, दूसरे उनके इस प्रकार के व्यवहार से निराश होकर मैंने इनके बीच जाना ही छोड़ दिया।

चमारों में भी कुछ लोग ऐसे थे, जो पहले कांग्रेस के स्वयंसेवक रह चुके थे। ये लोग प्रायः मेरे पास आया करते थे। उनसे भी अक्सर मैं इस प्रकार की चर्चा किया करता था। वे उत्तर देते थे—"बाबा, उनकी बात तोहरे समझ में नाहीं आवत होइहै। वे फूहर मनई होयँ। अंट शंट कहि दिहे होइहैं। मुला उनके मन माँ कौनो किस्म कै गन्दगी नाहीं बा॥" लेकिन मुझे इनकी बातों से तसल्ली नहीं होती थी। मैं देहात के कुर्मियों के घर भी जाता था, उनकी स्त्रियाँ माता व बहन के समान प्रेम का व्यवहार करती थीं। कभी-कभी एकाध बुढ़िया थोड़ा-बहुत मजाक जरूर कर देती थी, लेकिन अन्य स्त्रियाँ उसे तुरन्त सँभाल लेती थीं। इसलिए चमारों की स्त्रियों का ऐसा व्यवहार मुझे स्वाभाविक नहीं लगा।

यह बात मेरे दिमाग में रह-रहकर आती थी। आखिर, एक दिन एक बूढ़े चमार से बातचीत करने में मुझे इस बात की जड़ का पता लग गया। टाँडा का बाजार समाप्त करके मैं बोरों में सूत भर रहा था। इतने में वही रामपुर गाँववाला चमार आकर बैठ गया। वह हाथ में एक हरे कुम्हड़े का टुकड़ा लिये था। उसके साथ एक बुड्ढा भी था, जिसे मैं जानता नहीं था। वह भी कुछ सौदा लिये हुए था। मालूम होता था कि वे लोग बाजार करके लौट रहे थे। मैं उस चमार से कहने लगा कि तुम्हारी बिरादरी कभी नहीं उठेगी। तुम्हारी जाति के अन्दर सुस्ती, गन्दगी, काहिली और चरित्रहीनता फैल गयी है। ठीक ही है कि तुम्हें दण्ड देने के लिए, तुमसे बेगार कराने के लिए परमात्मा ने इन ताल्लुकेदारों को पैदा किया है। उस चमार ने कहा—"बाबा, हमरे सब चमार होईं और उल्लू मनई होईं; कहाँ से ढङ्ग आवे। बाबा, तुहूँ जौन कुछ आवा जावा करत रहा, तौन यहि साइत तो देखाइन नाहीं परत हो। ढेर दिन होइगा, दरशन नाहीं भा। आज बाजार आय रहेन, सोचेन

भलमनई ही पाप के बीज बोते हैं

कि दरसन कइ लेई। तौन अउतै ही फटकार परै लागि। काव करी, कुछ समझ माँ नाहीं आवत। देश दुनिया सबै हमरे सबका फटकारै लागा थै। जौन गांधी बाबाकै सहारा रहा, वहूँ फटकार ही सुनाय पड़त है।"

मैं बहुत देर तक उनसे बात करता रहा और उनकी स्त्रियों के अश्लील व्यवहारों की आलोचना करने लगा। इस पर वह बोला कि आप उन बातों का खयाल न करें। उनकी आदत ही ऐसी है। मैंने पूछा—"आखिर ऐसी आदत क्यों है ? मैं कुर्मियों के घर भी जाता हूँ, उनकी स्त्रियों की तो ऐसी आदत नहीं है।" कुर्मियों की बात सुनते ही साथवाला बुड्ढा नाराज होकर कहने लगा—"हमकाँ का कहत हौआ ? का कुर्मी कौनो बाबू कै मजूर हैं, वे तो आजाद हैं, जौन चाहैं तौन करैं। हमरे घर के मेहरारू कै आदत तो बाबू लोगन ही बिगारिन हैं, नाहीं तो हमरे सब मजूर मनई दिन मैं मेहनत कइकै घर जाइकै मुरदा अस परि जाइत हइ; हमरे सबकै ऐसन शौक करै का हियाव कहाँ। तोहरे ठाकुरै सब हमरे सबकी मेहरारुन का खराब करत हैं, उनकै आदत बिगाड़त हैं, उनके साथ हँसी-मजाक करत हैं और हमरे सबकै धरम नाश करत हैं। हमरे सब टुकुर-टुकुर ताकित है और कुछ कहि नायँ पाईत हैं। भला ठकुरन से लड़िकै केऊ रहि सका थै।" जोश में आकर वह बुड्ढा बहुत-सी बातें कर गया। फिर तो मुझे प्रत्येक बात का तथ्य मालूम हो गया। देहात के मध्यम श्रेणी के जमींदार इन मजदूरों की स्त्रियों के साथ अश्लील मजाक किया करते हैं। वे धीरे-धीरे उन्हें फुसलाकर उन्हें भ्रष्ट करते हैं। इसीका नतीजा है कि मजदूरों की लड़कियाँ बचपन से ही मजाक करना सीख जाती हैं। ये लोग इन बातों को देखकर भी अनदेखी कर जाते हैं, क्योंकि अपने ठाकुरों के साथ झगड़ा करके वे किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकते।

● ● ●

गाँव के बच्चे

: १२ :

३०-७-'४१

मैंने तुम्हें लिखा था कि चमारों की स्त्रियों से परिचय करने के लिए मैंने पहले बच्चों से परिचय करना शुरू किया। मैं जब उन्हें किसी पेड़ के नीचे खेलते देखता या जंगल में गाय-भैंस चराते देखता, तो किसी-न-किसी बहाने उनसे बातचीत करने की कोशिश करने लगता था। इन लड़कों में कुर्मी और चमार जाति के लड़के अधिक होते थे।

एक दिन कुछ बच्चों को एक गड़ही के पास इकट्ठे देखा। उस गड़ही में बहुत-सी काई जमी हुई थी। बच्चे काई को निकाल-निकालकर एक जगह इकट्ठा कर रहे थे और उसमें से एक-एक दाना निकालकर एक बच्चे के सिर और सारे शरीर में नाना प्रकार से साटते थे। मैं एक पेड़ के नीचे बैठकर दूर से ही उन लोगों का खेल देखने लगा। थोड़ी देर के बाद सब लड़कों ने ताली पीटते और हल्ला करते हुए उस लड़के को एक पेड़ के नीचे ले जाकर बैठाया। तब उन्होंने एक गड्ढा खोदकर उसमें पानी भरा। पानी भरने के बाद सब लड़के उसे प्रणाम करने लगे और उसी गड्ढे से पानी निकाल-निकालकर उसे नहलाने लगे। ऐसा करके ये सब ताली बजा-बजाकर खूब हँसने लगे। जिस लड़के को चित्रित करके बैठाया गया था, वह इतना गम्भीर बन बैठा था, मानो उसके सामने कुछ बातें हो ही नहीं रही हैं। सारा दृश्य देखने में एक छोटा-मोटा-सा नाटक प्रतीत हो रहा था। मैं विचार रहा था कि बच्चे नाटक की यह कला मानो अपनी माँ के पेट से ही लेकर आये हैं। आखिर इन्हें किसीने सिखाया तो है ही नहीं, फिर यह सूझ आयी कहाँ से? निस्सन्देह, उनकी यह कला भी भारत के प्राचीन कलापूर्ण समाज के संस्कारों का भग्नावशेष है। मैं धीरे-धीरे उन बच्चों के पास पहुँचा। वे मुझे देखकर

देवी की पूजा

हँसने लगे। वे मुझे पहले ही से पहचानते थे, क्योंकि मैं इस गाँव में कई बार आ चुका था। मैंने उनसे पूछा कि यह कौन-सा खेल हो रहा है? उन्होंने जवाब दिया, "खेल नाहीं होय, देवीजी कै पूजा होत बा। हमरे सब देवी बनाये हैं।"

एक दिन एक गाँव के पास कुछ लड़के जंगल में गाय-भैंस चरा रहे थे। मैंने देखा कि वे आसपास के पेड़ों की छोटी-छोटी डालियाँ तोड़-तोड़कर, उन्हें गाड़-गाड़कर बहुत दूर तक एक बगीचा बना रहे थे और छोटी-छोटी कङ्कड़ियाँ चुनकर बगीचे के बीच-बीच में सड़क का निशान भी बना रहे थे।

बच्चों के खेल

इस प्रकार के खेलों के सिलसिले में बच्चों के अन्दर घुसने का मौका लग गया। ऐसी बातों से मुझे हमेशा दिलचस्पी रही। मैं उनके खेल में घुसकर उन्हें तरह-तरह की चीजें बनाना सिखाता था। मिट्टी के फल और बर्तन आदि बनाने की क्रिया बताता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि मैं एक वस्तु बनाता था, तो वे अपनी ओर से एक-दो वस्तुएँ और बना डालते थे। कहीं-कहीं मैं जंगल से लकड़ी और खर इकट्ठा करवाता था और उनसे घर बनवाता था। घर के सामने बगीचा भी लगवाता था; कहीं छोटे-छोटे कुएँ भी खुदवा दिया करता था। बच्चों की आविष्कार-शक्ति का एक उदाहरण सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा। एक बार जब मैंने बच्चों से मकान, बगीचा और खेत आदि बनवाकर कुएँ के लिए जमीन पर एक छोटा-सा गड्ढा खुदवाया, तो उसी समय एक लड़की उठकर तेजी से एक ओर को भागी और थोड़ी ही देर के बाद एक धतूरे का फल लाई और कहने लगी—"बाबा, यहमाँ से कूँड़ बनी कूँड़।" (उधर के देहात में कुएँ से ढेकुल द्वारा पानी निकालने के लिए जो बर्तन प्रयोग में आता है, उसे 'कूँड़' कहते हैं।) कूँड़ की आकृति भी धतूरे के ही समान होती है। मुझे उसकी बात से बहुत हँसी आयी और मैं दूसरे बच्चों से पूछने लगा कि इससे कूँड़ किस प्रकार बनायी जायगी? सभी बच्चे सोचने लगे

आविष्कार की शक्ति

तथा विविध प्रकार के उपाय काम में लाने लगे। वह लड़की बैठी-बैठी सारी क्रिया देखती और मुस्कराती थी, किन्तु जब उससे नहीं रहा गया तो बोल उठी—"भीतरा कै गुदवा निकाल नाहीं देता, कूँड़ अस तो होइ ना जाई।" कितने आश्चर्य की बात है कि मैंने सब कुछ प्लान उन्हें बताया, किन्तु कुएँ के लिए कूँड़ चाहिए और वह कूँड़ भी उसी जंगल से मिल सकती है, यह कल्पना मुझे भी न सूझी।

मैं अपने झोले में अखबार या दूसरे कागज रखा करता था और उनसे बच्चों को नाव आदि खिलौने बनाकर दे दिया करता था। किसी-किसी को नाव आदि बनाना बता भी दिया करता था। इस प्रकार उनके खेलों में शामिल होने से तथा उन्हें खेल के तरह-तरह के साधन बताने के कारण मैं उनमें बहुत हिल-मिल गया था। बचपन से ही मुझे बच्चों के साथ खेलना बहुत पसन्द आता है। बच्चे मुझसे बहुत जल्दी हिल जाते हैं। अब भी जब सेवाग्राम जाता हूँ, तो मीतु ही मेरा आधा समय ले लेती है और जब उसे कहानी सुनाते समय किसी दूसरे से बात करता हूँ, तो वह ऐसी नाराज होती है, मानो मैं उसीका साथी बच्चा हूँ!

कुछ दिनों में ऐसा हो गया कि जब किसी गाँव में जाता था, तो सब बच्चे इकट्ठे हो जाते थे। खेलने के सिलसिले में जो वस्तुएँ बनाकर उन्हें देता था, उन पर वे तरह-तरह के प्रश्न करते थे; जैसे—"कागज की नाव पानी पर तैरती क्यों है? कुछ देर में डूब क्यों जाती है? मकान, छप्पर आदि जब छाये जाते हैं, तो वे ढालू क्यों बनते हैं? हाथी के सूँड़ क्यों होती है?" वे मेरे आने की प्रतीक्षा में हफ्तों बिता देते थे और इसी अवधि में पचासों प्रकार की चीजें इकट्ठी करके रखते थे। घोंघे का शंख, टूटी हुई चूड़ियाँ और टूटे हुए घड़े आदि जो भी चीजें उन्हें मिल जाती थीं, इकट्ठी करके इस आशा में रखते थे कि इस बार जब बाबा आयेंगे, तो नया खेल बतायेंगे।

बच्चों के प्रश्न

बच्चों से घुलने-मिलने में मुझे एक विशेष बात का अनुभव हुआ कि देहात के किसान और मजदूरों के बच्चे काफी तेज होते हैं और उनमें

नवीन आविष्कार की अच्छी शक्ति होती है। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वे बुद्धू होते जाते हैं। इसका कारण क्या है? यही कि बचपन में वे संसार को देखते हैं, तो उसके जानने के लिए अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं और उनकी प्रकृतिदत्त विधायक शक्ति उनसे तरह-तरह की वस्तुओं का निर्माण कराती है। किन्तु दुःख का विषय है कि देहात में उनके प्रश्नों का जवाब देनेवाला कोई होता नहीं। इस प्रकार बौद्धिक विकास में लगातार रुकावट पड़ने के कारण उनके मस्तिष्क संकुचित हो जाते हैं। इसलिए अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में बुद्धि का विकास न होने के कारण वे अधिक बोदे लगते हैं। उनकी बुद्धिहीनता का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती है, त्यों-त्यों वे अपने को असहाय परिस्थिति में जकड़ा हुआ पाते हैं।

बुनियादी तालीम

देहात में कहीं-कहीं पर ही बच्चों के लिए स्कूल दिखाई देते हैं। किन्तु उनमें पढ़ाई की जिस पद्धति से काम लिया जाता है, उसमें बच्चों के स्वाभाविक प्रश्नों का उत्तर न देकर तथा उनकी प्राकृतिक निर्माण-शक्ति का विकास न करके, उनके मस्तिष्क में ऐसी बातें ठूँसी जाती हैं, जिनमें न तो उन्हें अपने निकटस्थ वातावरण की झलक मिलती है और न उनसे उनका प्राकृतिक विकास ही होता है। आज जब मैं बापूजी की बतायी हुई बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में सोचता हूँ, तो उन दिनों की बात याद आती है और यह धारणा होती है कि शिक्षा का सबसे अच्छा और प्राकृतिक रूप यही है। बच्चों के सम्बन्ध में मुझे यह भी अनुभव हुआ कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की बुद्धि प्रखर होती है।

गालियों की शिक्षा

हमारे गाँवों के बच्चे इतने होनहार हैं, किन्तु शोक की बात है कि हमारे पास उन्हें विकसित करने का साधन नहीं है। अशिक्षा और कुशिक्षा के कारण आगे चलकर वे एक विचित्र प्रकार के जीव बन जाते हैं। सबसे अधिक कुशिक्षा तो उन्हें अपने

ग्रामीण घरों में ही मिला करती है, क्योंकि समाज के रवैये के ही अनुसार उन्हें शिक्षा मिल सकती है। बच्चों के माता-पिता ही उन्हें विशेष रूप से गालियाँ देने की शिक्षा देते हैं। माँ-बाप के कहने पर छोटे बच्चे जब गन्दी गालियाँ दोहराने लगते हैं, तो उपस्थित लोग आनन्द से विह्वल होकर हँस पड़ते हैं। बच्चा भी समझता है कि उसने बड़ी वीरता का काम किया है, इसलिए वह भी प्रसन्न होता है। इसी तरह अनेकानेक गालियाँ सीखते हुए ग्रामीण बच्चे बड़े होते हैं। मैंने ग्रामीण बच्चों को जहाँ तक समझा है, मैं कह सकता हूँ कि उन्हें यदि कुछ ही दिनों तक श्रेष्ठ वातावरण में शिक्षा मिले, तो आगे चलकर वे गाँवों को सुचारु रूप से संगठित कर सकते हैं।

पूना में जब मैं बुनियादी तालीम के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में तुम्हारा भाषण सुन रहा था, तो मुझे रह-रहकर यही बात याद आ रही थी। तुम लोग सेवाग्राम में बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देती हो, मालूम नहीं कि सारे हिन्दुस्तान के बचों को उस प्रकार की शिक्षा कब प्राप्त हो सकेगी ?

● ● ●

गाँवों में पंचायत

: १३ :

३१-७-'४१

मैं एक दिन दोपहर के समय एक गाँव की ओर जा रहा था। रास्ते में कुछ लोगों को इकट्ठा होते देखा। मैं भी उस स्थान पर पहुँच गया। ज्ञात हुआ कि गाँव की पंचायत में किसी मामले का फैसला होनेवाला है। मैं वहीं खड़ा हो गया। एक आदमी ने मेरे लिए एक चारपाई लाकर डाल दी और मैं उस पर बैठ गया। पंचायत में कुछ पंच थे, सरपंच महोदय बीच में साफा लगाये हुए बैठे थे। प्रतिपक्षी सामने की ओर थे। गाँव के कुछ लोग दर्शक के रूप में भी मौजूद थे। एक किसान का खेत कट गया था; यही पंचायत का विचारणीय विषय था। खेत काटनेवाले एक ठाकुर साहब थे। मैंने सुना कि यह मुकदमा लगभग एक मास से चल रहा था। पंचायत देखने में एक छोटी-मोटी अदालत के ही रूप में दिखाई देती थी। दोनों पक्षों के गवाहों का बयान नियमानुसार लिखा जा रहा था। सरपञ्च महाशय बीच-बीच में सिर हिला दिया करते थे।

एक आँखोंदेखी पंचायत

कभी-कभी एक-आध सवाल भी कर दिया करते थे। उन्होंने अपनी मुखाकृति इतनी गम्भीर बना ली थी कि मानो हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस हों। गवाहों से कौन-कौन से प्रश्न पूछे जा रहे थे और वे उनका क्या-क्या उत्तर दे रहे थे, मुझे स्मरण नहीं है। पर, इतना तो स्पष्ट ही था कि अधिकांश बयान बनाया हुआ था। पंच लोग भी इस तथ्य को समझ रहे थे। मुझे अनुभव हुआ कि वे लोग यह भी समझ रहे थे कि मुकदमे की वास्तविकता क्या है, क्योंकि वे ऐसे प्रश्न पूछ रहे थे, जो अपरिचित मनुष्य पूछ ही नहीं सकता था। गवाही के दौरान में कभी-कभी गवाहों और गाँव के एकाध व्यक्तियों में वादविवाद और झगड़ा भी हो जाता था, जिसे पंच लोग कोशिश करके रोकते जाते थे। शाम तक मुकदमा

समाप्त हुआ। पंच लोगों ने फैसला लिखा और सुना दिया। जिस किसान का खेत कट गया था, वह अपना मामला साबित नहीं कर सका, इसलिए मुकदमा खारिज कर दिया गया और उसे चेतावनी दी गयी कि भविष्य में ऐसा झूठा मुकदमा न दायर करे।

मेरा उस गाँव के लोगों से परिचय नहीं था, इसलिए मैंने पंचायत समाप्त होते ही वहाँ से चला जाना चाहा, पर सरपंच ने मुझे जलपान के लिए रोक लिया। पंचायत की प्रणाली देखकर उसके प्रति मेरे मन में कोई विशेष दिलचस्पी न उत्पन्न हो सकी, क्योंकि वह आजकल की कचहरियों की भद्दी नकल मात्र थी। पंचों से मुझे ज्ञात हुआ कि वह एक सरकारी पंचायत है, जिसका निर्माण तहसीलदार के द्वारा होता है। गाँव के छोटे-छोटे झगड़े, जैसे खेत काटना, मेड़ बाँधना या खूँटा गाड़ना आदि इसमें विचारार्थ उपस्थित होते हैं और निपटारा पाते हैं।

कचहरियों का भद्दा अनुकरण

उस पंचायत को देखने के पश्चात् मैं सोचने लगा कि जब गाँवों में एक पंचायत मौजूद ही है, तो हम लोग क्यों दूसरी पंचायत स्थापित करने का प्रयत्न करें। इसके पहले जब मैं गाँवों में जाया करता था, तो किसानों से पंचायत कायम करने के लिए कहा करता था। किन्तु अब तक कहीं भी किसीने मुझे यह नहीं बताया था कि गाँवों में पंचायत पहले से ही मौजूद है। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि देहात में इन पंचायतों के मौजूद रहते हुए भी देहात के किसान कभी इस बात की चर्चा मुझसे नहीं करते थे। मैं जब उनसे पंचायत कायम करने को कहता था, तो वे लोग उसे मंजूर कर लिया करते थे। दो-तीन गाँवों में मेरे कहने से लोगों ने पंचायत बना भी ली थी। मैं उन पंचायतों के द्वारा गाँव में चर्खा चलवाने की कोशिश करता था। कालान्तर में ज्ञात हुआ कि जिन गाँवों में मेरी योजनानुसार पंचायतें बनी थीं, वे भी किसी-न-किसी प्रकार की सरकारी पंचायत के अन्तर्गत थीं।

उस दिन टाँडा लौटकर मैंने वहाँ के कांग्रेस कार्यकर्ता श्री जानकी-

प्रसादजी से सरकारी पंचायतों के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने बताया कि पंचायत कानून तो पहले ही बन चुका था; किन्तु पहले सरकार ने गाँवों में इसे विशेष रूप से चलाया नहीं था। जब १९२१ के आन्दोलन-काल में कांग्रेस की ओर से गाँव-गाँव में पंचायतों का निर्माण होने लगा, तो सरकार ने उक्त पंचायत कानून के अनुसार शीघ्रता से गाँव-गाँव में पंचायतें स्थापित कर दीं और उन्हें कुछ कानूनी अधिकार दिया। आन्दोलन के दबने के साथ-साथ कांग्रेस की पंचायतें समाप्त हो गयीं और सरकारी पंचायतें शेष रह गयीं। उसके बाद मैं जहाँ कहीं जाता था, वहाँ किसानों और चमारों से बातचीत कर यह जानना चाहता था कि इन पंचायतों के सम्बन्ध में इन लोगों के विचार क्या हैं? आसपास जहाँ कहीं भी पंचायत की बात सुनता, वहाँ अवश्य पहुँचने का प्रयत्न करता था और वहाँ जाकर उनकी कार्रवाई देखा करता था।

थोड़े ही दिनों में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि हम पंचायत के जिस रूप की कल्पना करते हैं, वह रूप इन पंचायतों को कभी मिल नहीं सकता। हर गाँव में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो पुलिस, थानेदार आदि से मिले रहते हैं और उन्हींकी सहायता से गाँव में अपनी धाक जमाये रखते हैं। भोले-भाले किसानों को बहकाकर लूटना इनका काम होता है। इनके पास निजी जमींदारी होती है अथवा वे अन्य जमींदारों से मिले रहते हैं। इस प्रकार ये गाँव सर्वशक्तिमान् समझे जाते हैं। गाँव के लोग इनसे सर्वदा डरते रहते हैं। यदि कोई इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न करे, तो किसी-न-किसी बहाने ये उसकी दुर्गति करके ही विश्राम लेते हैं। सरकार को जब कभी किसी गाँव में कोई भद्दा काम करवाना होता है, तो उस समय ये ही लोग उसके काम आते हैं! पंचायत कानून के अनुसार

सरकारी पंचायत

जब गाँवों में पंचायत स्थापित करने की बात चली, तो तहसीलदारों ने इसी श्रेणी के लोगों को पंच मुकर्रर किया। फल यह हुआ कि इन पंचायतों से गाँववालों को लाभ होने के बजाय नुकसान ही हुआ। जिन लोगों को पंच और सरपंच का

पद दिया गया, वे पहले से ही गाँव के गरीब निवासियों को सताने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली थे; कानूनी अधिकार पाकर वे अब और भी भयंकर बन गये। किसीको किसीसे लड़ाकर गरीब जनता को लूटना और सताना बिलकुल आसान हो गया।

पंचायतों का तरीका देखकर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि इनके द्वारा जनता में मुकदमेबाजी बढ़ गयी है। लोग अधिक संख्या में कचहरी जाने लगे और इससे सरकारी इच्छा के अनुसार घर-घर में फूट पैदा हो गयी, और कचहरी की आमदनी में वृद्धि होने लगी।

कालान्तर में मैंने गाँव के किसानों से पूछा कि जब तुम्हारे यहाँ पंचायत पहले से मौजूद है, तब इसकी चर्चा मुझसे क्यों नहीं करते थे ? मैं इतने दिनों से यह काम कर रहा हूँ, तुम लोग पहले सूचित कर देते, तो इतना परिश्रम न करके उन्हीं पंचायतों से काम लेने का प्रयत्न करता। इस पर उन्होंने कहा—"भला वह भी कोई पंचायत है। जैसे जमींदार, थानेदार, चौकीदार और सिपाही, वैसे ही ये सरपंच और पंच ! ये लोग हमें क्या लाभ पहुँचा सकते हैं ? उलटे ये तो हम लोगों पर घोर अत्याचार करते हैं। आप तो गांधीबाबावाली पंचायत चलाना चाहते हैं और चाहते हैं कि पंचायत गाँव-गाँव चर्खा चलवाये। लेकिन यदि कहीं सरकारी पंचायत के पंचों की चले, तो आज जितने चर्खे चल रहे हैं, उन्हें भी वे समाप्त करवा दें। उनकी हरी, बेगारी और बेदखली आदि से हम मरे जा रहे हैं। हम लोगों में से कोई कलकत्ता या रंगून से कुछ रुपये कमाकर लाता है और चाहता है कि नजराना देकर कुछ खेत-बारी बढ़ा ले, तो उसे भी हमारे इन पंच परमेश्वरों की गृद्ध-दृष्टि से मुक्ति नहीं मिलती। ये लोग कोई-न-कोई जाल बिछाकर उसकी अधिकांश कमाई हड़प जाते हैं।"

'ये भी क्या पंचायतें हैं ?'

कहाँ भारत की वे पंचायतें और कहाँ आज की ये पंचायतें !

पानी बन्द हो गया। अब बैरेक से बाहर निकलना है, अतः पत्र यहीं पर समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

समस्या की जड़

५-८-'४१

धीरे-धीरे अप्रैल आ गया। दोपहर के समय घूमना कठिन हो गया। लू के बचाव के लिए किसान मुझे अपने घरों के भीतर ठहराते थे। वहाँ टिकने से मुझे भलीभाँति विदित हो गया कि किसानों के मकान उनके रहने के लिए नितान्त अपर्याप्त हैं।

जिन लोगों में पर्दे का रिवाज है, उनके लिए तो जीवन ही भार-तुल्य हो जाता है। मैंने देखा कि उन लोगों के कपड़े और बिछौने आदि इतने गन्दे होते हैं कि उनमें दूर से ही बदबू आती है। उन लोगों से यदि कभी सफाई की बात करता था, तो वे अपने पास अधिक कपड़े न होने के कारण विवशता प्रकट करते थे। सदियों से साधन-विहीन रहने के कारण ये लोग गन्दगी के अभ्यस्त हो गये हैं। बेकारी के कारण इनकी प्रकृति में सुस्ती और काहिली ने अपना घर बना लिया है। इसीलिए इनकी स्वच्छतापूर्वक रहने की प्रवृत्ति भी नष्ट हो गयी है। बचपन से उनका जीवन दरिद्रता के वायुमण्डल में व्यतीत होता है, इसलिए वैसा ही उनका स्वभाव भी बन जाता है। इसमें उनका कोई विशेष अपराध नहीं है।

सब बुराइयों की जड़ उनकी गरीबी है

अतः यदि देहात के लोगों को सफाई का पाठ पढ़ाना है, तो सबसे पहले उनके लिए आर्थिक सहूलियतों का प्रबन्ध करना होगा। जब तक उनमें अपने जीवन से दिलचस्पी न लायी जाय, तब तक वे हमारी बातों पर ध्यान नहीं दे सकते। सबसे पहले उनको यह समझाना होगा कि काहिली दूर होने से उन्हें क्यों फायदा होगा तथा इससे उनके कौन-कौन से अभाव दूर होंगे। इस प्रकार जब उनके जीवन में कुछ आशा का संचार होने लगेगा, तभी उनकी जड़ता शिथिल हो सकेगी। जो लोग

ग्राम-सेवा का प्रारम्भ सफाई या शिक्षा से करना चाहते हैं, उन्हें देहात की इस स्थिति पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी-न-किसी आर्थिक प्रोग्राम की सफलता के बाद ही सफाई आदि का प्रोग्राम हाथ में लिया जा सकता है। यही सोचकर मैंने कुछ ही दिनों के बाद गाँव-वालों से सफाई के सम्बन्ध में कहना छोड़ दिया और केवल चर्खा और पंचायत का ही कार्य लेकर चलने लगा।

गर्मी दिन-दिन भीषण होने लगी और लू अधिक चलने के कारण चर्खे का काम भी कुछ कम होने लगा। मेरा घूमना भी कम हो गया। राष्ट्रीय सप्ताह आ गया था, इसमें मैंने केवल टाँडा के कस्बे में खादी बेचने का प्रोग्राम रखा। राष्ट्रीय सप्ताह के लिए अकबरपुर से श्री देवनन्दन भाई भी मेरी सहायता के लिए आये हुए थे। हम दोनों ने बड़ी धूम से खादी बेचने का काम किया। सप्ताह समाप्त होने पर वे हिसाब देने के लिए अकबरपुर चले गये। उनके चले जाने पर मैंने सोचा कि लगभग पन्द्रह दिन से मैं देहात नहीं गया। अब देहात का प्रोग्राम बनाना चाहिए।

मैंने देहात में जाकर देखा कि चारों ओर हैजा फैला हुआ है। गाँवों में अनेक व्यक्ति मर रहे हैं। हर तरफ आतंक छाया हुआ है। कोई एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का साहस नहीं करता था। मुझे गाँव में आते देखकर सब लोग आश्चर्य करने लगे। गाँव की स्त्रियाँ दबी जबान से मुझे टाँडा वापस जाने के लिए कहने लगीं। वे मेरे पास आकर इस प्रकार धीरे से कहती थीं कि कहीं कोई सुन न ले। मैं टाँडा वापस तो अवश्य आया, किन्तु स्पिरिट कैम्फर की बोतल अस्पताल से लेकर फिर वहाँ वापस चला गया। देहात में जब मैं कॉलरा के रोगी के पास जाकर उसे दवा देने की कोशिश करता था, तो लोग बहुत एतराज करते थे। कहते थे—"भवानी माई नाराज हो जायँगी और जितने लोग बचे हैं, उन्हें भी हैजा हो जायगा।" मैं कहीं-कहीं जबरदस्ती दवा पिला देता था, लेकिन साधारणतया इस काम में सफल न हो सका। भद्र कही जानेवाली

जाति के एकाध व्यक्तियों को तो मैं दवा पिला भी सका, किन्तु चमारों के परिवार में किसीको भी दवा न पिला सका, यद्यपि हैजे का प्रकोप सबसे अधिक इन्हीं लोगों में था। चार-पाँच दिन प्रयत्न करके मैंने देखा कि इन लोगों में दवा का प्रबन्ध करना बेकार है! कड़ाके की धूप में अनेक गाँवों का चक्कर लगाने पर एकाध आदमी को दवा पीने के लिए तैयार कर पाया था। गाँव के लोग ऐसे संक्रामक रोग को रोग नहीं समझते; 'भवानी माई' का प्रकोप समझते हैं। मैंने देखा कि घर में इतने भीषण रोग के होते हुए भी लोग निश्चिन्तता के साथ बैठे रहते थे। बगल में रोगी पड़े हैं, किन्तु न तो ये रोते हैं, न कुछ कहते हैं और न किसी प्रकार का उद्योग ही करते हैं। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यदि ये लोग दवा खिलाना स्वीकार नहीं करते, तो मैं कम-से-कम प्याज का रस ही पिला दूँ। किन्तु गरीबी के कारण बेचारों के घरों में प्याज भी नहीं था।

यह बेहोशी!

गाँव के लोगों को दवा पीने से इनकार करते देखकर शुरू में मुझे कुछ-कुछ बुरा-सा लगा, किन्तु फिर सोचा कि ये लोग इतने गरीब और साधनहीन हैं कि 'भवानी माई का प्रकोप' और 'तकदीर' इत्यादि कहकर सन्तोष कर लेते हैं। इनके लिए यह भी एक प्रकार से अच्छा ही है। क्योंकि यदि उन्हें विश्वास होता कि दवा से ही रोगी अच्छा हो सकता है, तो वे इधर-उधर भटकते, दवा की कोशिश करते, किन्तु कहीं प्रबन्ध न होने के कारण निराश हो जाते और कुछ कर न सकने के कारण स्वयं को धिक्कारते। ऐसी अवस्था में उन्हें प्रायः उन्माद-सा हो जाता।

मैं लिख चुका हूँ कि अवध के ग्रामीणों की गरीबी बेहोशी की स्थिति में पहुँच गयी है। इसलिए लोग अपने को विवश जानते हुए भी उससे मुक्ति पाने के लिए किसी प्रकार की क्रान्ति या विद्रोह नहीं करते हैं। जब कभी महामारी का प्रकोप होता है, तो इनके लिए 'भवानी का प्रकोप' रूपी मनोवृत्ति ही एकमात्र सान्त्वना है। जो लोग इस प्रकार की मनोवृत्ति

आर्थिक सुधार की आवश्यकता

को कुसंस्कार कहकर इन पर व्यंग्य करते हैं, उन्हें चाहिए कि इनके कुसंस्कारों के प्रति इन्हें उपदेश देने की अपेक्षा इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करें। वे देखेंगे कि आर्थिक सुधार के साथ साथ उनकी कूपमंडूक मनोवृत्ति क्रमशः दूर होती जायगी। मेरा अनुभव है कि देहात में जिनकी आर्थिक स्थिति जितनी ही खराब है, उतने ही अधिक वे कुसंस्कारों के शिकार हैं।

तीन-चार दिन इधर-उधर घूमने के बाद मुझे महसूस होने लगा कि इस अथाह महासागर में मैं एक बूँद कैम्फर लेकर कर ही क्या सकता हूँ? दवा भी लगभग समाप्त हो चुकी थी। गाँव के लोग भी मुझसे बार-बार टाँडा वापस चले जाने का आग्रह कर रहे थे। अतः मैं टाँडा वापस चला आया। धूप के कारण टाँडा पहुँचते-पहुँचते बिल्कुल थक गया और मकान पर पहुँचकर सो गया।

शाम को तीन-चार मित्र मिलने आये। मैंने शर्बत बनाकर उन लोगों को पिलाया और स्वयं भी पिया। अँधेरा हो जाने पर वे लोग अपने-अपने घर चले गये। मैं लालटेन जलाकर आँगन में आ बैठा। काफी थक गया था, खाना बनाने की बात सोच रहा था, किन्तु कुछ आलस्य आ रहा था। तभी पाखाने की हाजत महसूस हुई। मैं टट्टी गया, किन्तु पाँच ही मिनट बाद फिर टट्टी लगी। दो-तीन बार टट्टी जाने के बाद मेरे सिर में चक्कर आने लगे और हाथ-पैर कमजोर होने लगे। अब मुझमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी कि उठकर कहीं बाहर जा सकूँ। पास-पड़ोस में कोई था भी नहीं, जिसे सहायता के लिए बुलाऊँ। फिर मैं नाली के पास चारपाई ले जाकर उसी पर लेट गया। कैम्फर की बोतल की ओर देखा, तो वह भी खाली थी।

स्वयं हैजे के चंगुल में

अन्ततः उसी चारपाई पर से ही टट्टी करता रहा। टट्टी के साथ-साथ कै भी शुरू हो गयी थी। मैं कुछ घबड़ा गया, किन्तु करता ही क्या? सोचा, चलो भवानी के भरोसे पड़े रहो।

संयोग से रात की गाड़ी से ९-१० बजे के लगभग देवनन्दन भाई आ गये। मुझे ऐसी स्थिति में देखकर वे बहुत घबराये और कुछ रुँआसे-से हो गये। कहने लगे कि भाई धीरेन, अब क्या होगा? मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि इस समय यह सोचने का अवसर नहीं है, तुम जल्दी से जाकर जानकीप्रसाद के यहाँ से कैम्फर की बोतल ले आओ। जानकीप्रसादजी का घर आश्रम से ५ मिनट का रास्ता था। देवनन्दन सिंह शीघ्र ही दवा लेकर लौट आये। कैम्फर तो नहीं मिला, कोई दूसरी दवा लाकर उन्होंने दी। जानकीप्रसादजी मेरी वैसी अवस्था सुनकर मेरे पास न आकर सीधे डॉक्टर के पास चले गये। इसी बीच मेरे हाथ-पाँव ऐंठने लगे और क्रमशः मैं बेहोश हो गया। डॉक्टर आये, मेरी दवा-दारू हुई, किन्तु मुझे कुछ भी पता नहीं चला। जब मैं होश में आया, तो मेरा कै-दस्त बन्द हो चुका था और मैं बरामदे में एक दूसरी चारपाई पर लिटाया जा चुका था। इस आकस्मिक बीमारी ने मुझे बिल्कुल कमजोर बना दिया। पन्द्रह-बीस दिन के बाद जब चलने लायक हुआ, तो अकबरपुर के लोग मुझे टाँडा से बुला ले गये। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद जब मुझमें कुछ शक्ति आयी, तो मैं रेल द्वारा घर चला गया। लगभग दो माह घर रहना पड़ा।

पत्र समाप्त ही कर रहा था कि तुम्हारा पत्र आ पहुँचा। पत्र बहुत देर से मिला है। हमारे एक साथी का तार ७ दिन में मिला था। मैं अच्छी तरह हूँ। सात पौंड वजन बढ़ा है। प्रभाकर भाई, कृष्णदास भाई और सबको नमस्कार पहुँचाना। नमस्कार।

कुछ अन्य समस्याएँ

: १९ :

८-८-'४१

बीमारी के बाद मैं अपने भाई के पास शिमला चला गया। वहाँ लगभग डेढ़ माह आनन्दपूर्वक बिताने से मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो गया और मैं अकबरपुर लौट आया।

देहात में चर्खे का प्रचार करते समय मैं उसके आर्थिक पहलुओं पर भी काफी विचार किया करता था। फैजाबाद जिले में रूई नहीं पैदा होती। मैं सवाई और ड्योढ़े के हिसाब पर सूत बदलता था, हिसाब लगाने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस तरह कातकर देहात के लोग अपना कपड़ा नहीं बना सकेंगे, क्योंकि कपड़ा वगैरह निकालकर उन्हें इतनी कम बचत होती थी कि मेरे लाख हिसाब लगाने पर भी उस बचत से उनके पूरे परिवार को कपड़ा मिलना किसी तरह सम्भव नहीं होता था। इस विषय पर मैं राजाराम भाई से भी विचार-विनिमय किया करता था।

राजाराम भाई भी जब चर्खे पर आर्थिक दृष्टि से विचार करते, तो वे भी इसी परिणाम पर पहुँचते थे। किन्तु वे इस बात पर विशेष जोर देते थे कि उनके सहारनपुर जिले के किसान अपने खेत की ही रूई से सूत कातकर बेचते हैं, जिससे उन्हें लाभ होता है। वे प्राचीन काल से चर्खा कातते आ रहे हैं। यदि वे अपनी रूई व्यापारियों के हाथ बेचते हैं, तो बड़ी मंडियों की अपेक्षा उन्हें सस्ते दामों में बेचनी पड़ती है। इसलिए सूत कातकर बेचने में उन्हें यथेष्ट लाभ रहता है। किन्तु अकबरपुर की अवस्था इसके प्रतिकूल थी। यहाँ बड़ी मंडियों से महँगी रूई खरीदकर किसानों को दी जाती थी, जिससे वह उन्हें और भी महँगी पड़ती थी। सहारनपुर के समान अकबरपुर के किसानों की बचत होनी असम्भव थी। इसके

रूई की खेती बिना चर्खा पंगु है

अतिरिक्त किसान जो वस्तुएँ घर पर पैदा कर लेते हैं, उसका वे कोई मूल्य नहीं समझते। किन्तु जो किसान रूई खरीदकर कातते हैं, उन्हें तो अपनी कताई से रूई का दाम भी चुकाना पड़ता है।

अतः फैजाबाद के किसानों को बचत की रूई से सूत कातकर कपड़ा पूरा करना असम्भव ही था। इस प्रकार के चिन्तन से मुझे ऐसा लगा कि फैजाबादी किसान जब तक रूई की खेती स्वयं नहीं करेंगे, तब तक चर्खे की समस्या हल होनी कठिन ही है। इसलिए टाँडा में रहते समय गाँववालों से रूई बोने के लिए कहता था। उन्हें यह समझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती थी कि घर की रूई होने पर उनकी कपड़े की समस्या हल हो जायगी। अभी इसका प्रचार प्रारम्भ ही किया था कि मैं बीमार पड़ गया और टाँडा में पड़ा रहा। इस समय देवनन्दन भाई मेरी देख-भाल करने तथा मेरा कार्य सँभालने के लिए रुके रहे। मैंने उन्हें कपास बोने की आवश्यकता समझायी और कहा कि आप यह प्रचार जारी रखें। टाँडा के इलाके में सन् १९२१ के आन्दोलन से ही सारी तहसील के लोग उन्हें 'बाबा देवनन्दन' कहकर पुकारते थे। आन्दोलन में काम करते हुए वे जेल भी हो आये थे। उनके प्रचार का बहुत प्रभाव पड़ा और बहुत से लोग रूई बोने के लिए तैयार हो गये।

मैं घर जाते समय देवनन्दन भाई से कह गया कि वे इसका अनुमान कर लें कि कितने लोग कपास बोने को तैयार हैं और उसीके अनुसार कपास के बीज खरीद लें। उन्होंने हिसाब लगाकर कपास के ११ बोरे बीज खरीद लिये थे। किन्तु इतने अधिक बीज की खपत उस क्षेत्र में नहीं हो सकती थी। जिस समय मैं शिमला से लौटा, बहुत थोड़े बीज किसानों में बाँटे जा सके थे। आश्रम के लोग मुझसे कहने लगे कि यह तूफान आपका ही उठाया हुआ है, इसलिए सारे बीज बुआने का उत्तरदायित्व आप पर ही है। बीज वास्तव में बहुत अधिक थे और बगैर तूफानी कोशिश के उनकी खपत असम्भव थी। इस सिलसिले में मुझे काफी दूर तक जाना पड़ा। मैंने स्थान-स्थान पर बीज का स्टॉक रखवा दिया और एक बार निकलने

६

पर दस-बीस दिन तक वापस नहीं लौटता था। तभी मुझे एक खास बात दिखाई पड़ी। वह यह कि हमारे यहाँ के किसान खेती के काम में कोई भी नयी बात करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। देहात में मेरे अधिक परिचय के कारण लोगों ने एक-दो कट्ठे के लिए बीज तो अवश्य खरीद लिया, किन्तु उनमें से अधिकतर लोगों ने उसे बोया ही नहीं! जिन लोगों ने बोया भी, उन्होंने उसे दूसरे अनाजों के साथ मिलाकर बोया।

बिनौला बाँटने के सम्बन्ध में मैं टाँडा के पूरब काफी दूर बिड़हर परगने तक चला गया। उस क्षेत्र में अधिकतर क्षत्रियों के ही गाँव देखने को मिलते थे। ये लोग साधारणतया अच्छी स्थिति के मालूम होते थे। इन्हें हमारे काम से बड़ी घृणा थी। कितने ही व्यक्ति तो मुझसे साफ-साफ कहते थे कि कांग्रेस और गांधी बाबा तो छोटे लोगों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और सारी समाज-शृंखला को चौपट कर रहे हैं। यहाँ के लोगों में छोटे लोगों के प्रति उतनी ही घृणा का भाव देखने में आया, जितना शहर के पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोगों में। यहाँ के ठाकुर छोटी जाति के लोगों के साथ सीधे बात भी नहीं करते थे।

खेती के लिए बिनौले का प्रचार

सतत प्रयत्न से मैंने करीब-करीब सभी बिनौले समाप्त कर डाले। मैं आमतौर से जहाँगीरगंज तक ही बिनौले का प्रचार कर रहा था, क्योंकि वहीं तक आश्रम के सूत का केन्द्र था। उसके पूर्व की ओर कोई केन्द्र न होने के कारण उधर नहीं जाता था। एक दिन बिनौला लेकर मोटर से जहाँ-गीरगंज जा रहा था, उसी मोटर में एक जमींदार के पुत्र से मेरा परिचय हो गया। उन्होंने मुझे अपने गाँव कम्हरिया बिनौला ले चलने को कहा। कम्हरिया जहाँगीरगंज से ८ मील की दूरी पर है। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे अपने आसपास काफी बिनौला बेचवा देने का प्रयत्न करेंगे।

पूरब जाने में मुझे जो पहला गाँव मिला, वह काफी अच्छा मालूम होता था। उस गाँव में एक अच्छा-सा मकान दिखाई दिया। मैंने समझा कि यह मुखिया का मकान होगा। यह सोचकर उसके बरामदे में जो

तख्त बिछा हुआ था, उस पर जाकर बैठ गया। लगभग आध घण्टे के बाद भीतर से एक स्त्री निकली। उसकी वेश-भूषा और कपड़ा आदि के देखने से मालूम हुआ कि मैं किसी भले घर में आया हूँ। मैंने उससे पूछा कि यह मुखिया का घर है क्या ? एक अनजान आदमी को इस तरह से बैठे हुए देखकर उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ। किन्तु मेरे प्रश्न करने पर वह दरवाजे के पास नीचे बैठ गयी और पूछने लगी कि आप मुखिया का घर क्यों तलाश रहे हैं ? मैंने अपना उद्देश्य उससे कह सुनाया। वह बोली कि आपको परीशान होने की जरूरत नहीं है। मैं सारा प्रबन्ध कर दूँगी। फिर वह कहीं बाहर चली गयी और थोड़ी देर में लौट आयी। एक आदमी मेरे लिए हाथ-पैर धोने का पानी लाया। मैं थका हुआ तो था ही, हाथ-पैर धोकर निश्चिन्त होकर बैठा और उस स्त्री के दिये हुए चबैने और रस का सदुपयोग करने लगा। मेरे रस पी चुकने के बाद वह स्त्री वहाँ बैठ गयी और गांधी बाबा तथा दुनियाभर की तमाम बातें करने लगी। घंटे-डेढ़ घंटे बाद गाँव के बहुत-से लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। उस स्त्री ने उनसे मेरे आने का उद्देश्य बताया और कहा कि सबको चाहिए कि थोड़ा-थोड़ा बिनौला लेकर अपने खेत में बोयें। मैंने भी उन्हें, चर्खा चलाने के फायदे, गाँधीजी के उपदेश तथा रूई बोने के काम आदि बातें समझायीं। सब लोग थोड़ा-थोड़ा बिनौला लेकर चले गये। दो-एक आदमी वहाँ रह गये। शाम हो रही थी, मैं सोच रहा था कि अब क्या करूँ ? उस घर में टिकना तो मुश्किल था, क्योंकि वहाँ एक स्त्री और सिर्फ एक छोटी-सी लड़की ही रहती थी। उस समय किसी और गाँव में जाना भी असम्भव ही सा लग रहा था। मैं ऐसी ही द्विविधा में पड़ा था कि काफी अच्छे कपड़े पहने हुए एक मुसलमान वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही वह स्त्री कह उठी—"आओ, जिलेदार साहब आओ" और अत्यन्त घनिष्ठता के साथ मुस्कराते हुए बोली कि "लेओ आज हमरे घर में पाहुन आएबा, आज तुहरे सबकै नाहीं चली।" उस स्त्री की बातचीत के ढंग से मुझे ऐसा लगा

चरित्रहीना के घर में

कि कहीं मैं किसी चरित्रहीना के घर में तो नहीं आ गया ? मैं बड़ी घबराहट में पड़ा और मैंने फौरन ही वहाँ से चल देने की बात सोची, किन्तु थोड़ी ही देर में मैंने अपने को सँभाल लिया और सोचा कि मुझे गाँव के विषय में अध्ययन तो करना ही है, फिर यह नया अनुभव क्यों छोड़ दूँ ? अतः निश्चिन्त होकर बैठ रहा।

उस स्त्री ने जिलेदार से मेरा परिचय कराया। मुझसे तथा जिलेदार से बातें होने लगीं। जिलेदार बिनौले निकाल-निकालकर देखने लगा और मुझसे उनके बोने के नियम पूछने लगा। थोड़ी देर में एक आदमी दो-तीन चारपाइयाँ लाकर रख गया और पाँच-सात आदमी आकर इन चारपाइयों पर बैठ गये और जिलेदार से बातचीत करने लगे। थोड़ी देर बाद वह स्त्री भी आकर इस वार्तालाप में शामिल हो गयी। इन सबकी बातचीत से मुझे उस स्त्री के चरित्रहीन होने में रंच-मात्र भी सन्देह नहीं रह गया। थोड़ी देर बाद सब लोग चल पड़े। जिलेदार भी सबेरे आने का वादा करके चला गया। उसके चले जाने पर मैं यह सोचने लगा कि रात कहाँ बिताऊँ ? अँधेरा काफी हो चुका था, दूसरी जगह जाना मुश्किल था, इसलिए मैंने उसी तख्त पर पड़े रहकर रात काटने का निश्चय कर लिया।

उस स्त्री ने मुझसे पूछा—"आप क्या खाना बनायेंगे ? आप जैसा कहें, मैं वैसा प्रबन्ध कर दूँ।" उस समय उसकी बातचीत से मुझे ऐसा लगा कि वह यह समझ गयी है कि मैंने उसकी बातें जान ली हैं; क्योंकि अब वह मुझसे बातें करने में कुछ झिझकती और घबरा-सी जाती थी। मैंने उसे उत्तर दिया—"आखिर तुम्हें भी तो कुछ बनाना-खाना है, उसीमें से थोड़ा हमें भी दे देना। मैं अलग बनाने की झंझट क्यों करूँ ?" मेरी इस बात से उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया और थोड़ी देर के लिए उसकी जबान बन्द हो गयी। फिर वह बहुत हिचक के साथ बोली—"भइया, हमार छुआ खाये माँ कोई हरज तो न होइना ? अगर कौनो हरज होय त इन्तजाम होय सकत है।" मैंने उससे कहा—"माई, मनई

मनई कै बनावा खाई तो वहमाँ हरज का होई ?" फिर वह अन्दर चली गयी और मैं उसी तख्त पर लेट गया।

दो घण्टे के बाद उस स्त्री ने मुझे बहुत प्रेम से खाना खिलाया। अब तक उसकी झिझक भी मिट गयी थी और वह खाना परोसते समय गांधी बाबा की बात बहुत श्रद्धा के साथ पूछ रही थी। उसके खाना खिलाने के ढंग में मुझे वही भावना दिखाई दी, जो हर जगह दिखाई देती है। यह है भारतवर्ष का नारी-हृदय, जो मातृत्व की भावना से भरपूर रहता है। भारत की स्त्री के हृदय में प्रेम और श्रद्धा की जो भावना होती है, फिर चाहे वह किसी धर्म, किसी जाति और किसी श्रेणी की हो, वह शायद संसार के किसी अन्य देश की स्त्री में नहीं होगी। एक स्त्री, जो खुले आम अपनी चरित्रहीनता का परिचय देती है, उसके हृदय में भी इतना प्रेम और इतनी श्रद्धा मौजूद है कि उसका अनुभव कर अवाक् हो जाना पड़ता है।

नारी का वही सनातन मातृत्व

सवेरे मैं उठकर जल्दी से चला जाना चाहता था, किन्तु उस स्त्री ने मुझे रोका और कहा कि "बिना जलपान किये मैं नहीं जाने दूँगी।" इसलिए मुझे वहीं बैठ जाना पड़ा। थोड़ी देर में जिलेदार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मेरा बचा हुआ सारा बिनौला खरीद लिया और कहा—"लाओ, मैं भी अपने यहाँ बुवा दूँगा।"

पानी पीकर मैं उस गाँव से चल दिया और जहाँगीरगंज की ओर वापस आने लगा। जहाँगीरगंज वहाँ से १० मील दूर था, इसलिए मुझे रास्ते में काफी समय लगा। चलते-चलते मैं उस स्त्री के विषय में सोचने लगा। उसका घर और उसके रहने की शैली बाजारू स्त्रियों की तरह नहीं लगती थी, फिर भी जिस ढंग से श्रीमान् लोग उसके यहाँ एकत्र होते और उसके साथ जैसा व्यवहार करते, उससे स्पष्ट दीख पड़ता था कि उस स्त्री की चरित्रहीनता बिलकुल खुली चीज है। इस घटना के बाद मैं जहाँ भी गया, इस बारे में लोगों से पूछ-ताछ करता रहा। पता चला कि इधर के गाँवों में ऐसी स्त्रियाँ अधिक हैं। ये प्रायः विधवाएँ होती हैं और

अधिकांश उच्च घराने की होती हैं। इनके पास जीवन-यापन के लिए कुछ भूमि होती है। ये अपने घरों में स्वतन्त्र रूप से रहती हैं। इनका स्वतन्त्र रहना ही इनके बिगड़ने का कारण होता है। गाँव के लोग इनके अकेलेपन का लाभ उठाकर इनसे दोस्ती कायम करते हैं और इनका जीवन बरबाद करते हैं। गाँव के अच्छे कहे जानेवाले व्यक्ति ही इनसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का समाज इस किस्म की सामाजिक दुर्नीति से परिपूर्ण था। पर आज का समाज यह अनुभव करने लगा है कि यह कार्य बिलकुल नीति-विरुद्ध है।

मैं जहाँगीरगंज से अकबरपुर लौट आया। इधर बिनौला भी लगभग समाप्त हो चुका था। जो बच गया था, उसे बोने का अवसर नहीं रह गया था। इसलिए मैं अकबरपुर में ही रहने लगा। इसके बाद मेरा गाँवों में आना-जाना बन्द हो गया। अब अपनी देहाती राम कहानी समाप्त करता हूँ।

मीतुमा क्या कर रही है? मैं जब वहाँ जाता था, तो वह मुझे कहानी सुनाने के लिए तंग किया करती थी। उसे यह सच्ची कहानी सुना देना और उससे कहना कि वह मुझे लिखे कि यह कहानी उसे कैसी लगी! उसे प्यार कहना। सबको नमस्कार! ● ● ●

देश-भ्रमण की कहानी

: १६ :

१६-८-'४१

अकबरपुर लौट आने के बाद मेरे जिम्मे कोई खास काम नहीं रह गया। एक प्रकार से बेकार ही रहता था और यदि कोई रोगी आ जाता, तो उसे दवा दे दिया करता था। असहयोग आन्दोलन पूरी तरह से दब चुका था। देश के भीतर निराशा-सी छाई हुई थी, स्वभावतः उन सभी कार्यकर्ताओं के समक्ष कुछ परीशानी-सी थी, जो अपने व्यक्तिगत जीवन में वापस नहीं चले गये थे। आश्रम में भी इस प्रकार की चर्चा चला करती थी। अकबरपुर में जितने व्यक्तियों के लिए काम था, हम लोगों की संख्या उससे बहुत अधिक थी। इसलिए हर कार्यकर्ता के लिए कुछ-न-कुछ बेकारी रहती ही थी। मुझे भी उस समय कोई जिम्मेदारी का काम नहीं था, हाँ, जिन-जिन व्यक्तियों के पास बिनौले का स्टॉक था, उनका हिसाब लेने के लिए कभी-कभी बाहर चला जाया करता था। जब लौटकर आश्रम में आता था, तो आश्रमी भाइयों को देश-विदेश-भ्रमण करने की योजना बनाते हुए देखता था।

एक दिन दोपहर के समय बाहर से लौटकर आया, तो देखा कि आश्रम के भाई लोग भ्रमण की बातचीत कर रहे हैं। बहस इस बात पर थी कि भ्रमण का रूप किस प्रकार का हो ? सब लोग पैदल ही चलने की बात कर रहे थे, किन्तु विवाद इस पर था कि वेश-भूषा कैसी हो, कहाँ ठहरा जाय, कितनी दूर चला जाय ? मेरे आते ही लोग पूछने लगे कि धीरेन्द्र, तुम्हारी क्या राय है ? हमें किस तरह जाना चाहिए ? मैंने उनकी बातें सुनकर कहा—जाना-आना तो किसीको है नहीं, व्यर्थ में बहस करने से क्या लाभ ? पर लोगों ने विवाद बन्द नहीं किया। सहसा मैंने कहा कि मैं कल निकलूँगा और उसी समय बताऊँगा कि निकलने का ढंग क्या होना चाहिए। जिसे मेरे साथ चलना हो, वह अभी से निश्चय कर ले।

रात के समय भी इसकी चर्चा जोरों के साथ चलती रही। मैं यह सोचकर उस चर्चा में सम्मिलित नहीं हुआ कि अब तो मैंने चलने का निश्चय कर ही लिया है, फिर चर्चा से क्या लाभ ? किन्तु हृदय में यह द्वन्द्व मचा हुआ था कि यदि मैं आश्रम छोड़कर चला जाता हूँ, तो आश्रम के प्रति कर्तव्य का हनन होता है। फिर जी कहता था कि यदि मैं पैदल घूम-कर देश देख सका, तो भिन्न-भिन्न प्रदेशों का, विभिन्न प्रकार की श्रेणियों का अध्ययन हो जायगा। मैं ऐसी द्विविधा में पड़ा था कि एकाएक हमारे पुराने साथी राजाराम भाई घर से आ गये। वे छह-सात महीने पहले अपने भाई की बीमारी के कारण घर चले गये थे। अब तक हम लोगों को उनका कोई समाचार नहीं मिला था। उस समय देश के राजनीतिक आन्दोलन में बहुत-से नौजवान, जिन्होंने १९२१ के आन्दोलन में भाग लिया था, हताश होकर अपने-अपने घर वापस जा रहे थे। हम लोगों ने राजाराम भाई के सम्बन्ध में भी यही सोच लिया था कि अब वे आश्रम में नहीं आयेंगे। किन्तु उनके इस आकस्मिक पुनरागमन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा है कि उसने राजाराम भाई को यहाँ ला पहुँचाया। अब मेरे जाने से आश्रम की लेश-मात्र भी हानि नहीं होगी। मैं निश्चिन्त होकर आश्रम से बिदाई ले सकता हूँ। मुझे अब किसी प्रकार की द्विविधा नहीं रह गयी। रात को निश्चिन्तता से सोया।

सबेरा होने पर मैं २ गज लम्बे १ गज चौड़े दो गमछे, दो लँगोटे, एक झोला और एक लाठी लेकर उस स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ बैठकर अन्य आश्रमी भाई बातचीत कर रहे थे। मैंने कहा—"देखो, मेरे विचार से इस प्रकार की पोशाक पहनकर चलना चाहिए और जिधर ये दोनों आँखें ले चलें, उधर ही चलना चाहिए। अब बताओ, कौन-कौन मेरे साथ चलने के लिए तैयार है ?" पिछली रात तक लोगों ने हमारी बातों की गम्भीरता की ओर ध्यान नहीं दिया था। वे समझ रहे थे कि नित्य की भाँति यह भी एक कपोल-

यात्रा की आकस्मिक घोषणा

कल्पना है, परन्तु मुझे इस प्रकार तैयार देखकर लोग आश्चर्य में पड़ गये। वे कहने लगे कि तुम जाओ, हम नहीं जाते। पर मेरे एक साथी श्री श्रीनिवास सिंघल मेरी ही तरह पोशाक तैयार कर मेरे साथ चलने को उद्यत हो गये। फिर हम दोनों व्यक्ति दोस्तपुर जानेवाली सड़क से होकर दक्षिण की ओर चल दिये।

अकबरपुर से इलाहाबाद लगभग १०० मील दूर है। यह दूरी हम लोगों ने ५ दिन में समाप्त की। इलाहाबाद स्टेशन पर अकबरपुर के एक पुराने रेलवे कर्मचारी श्री नन्दी बाबू से हमारी मुलाकात हो गयी। वे हमें देखते ही आश्चर्य के साथ कह उठे—"आप लोग यहाँ कहाँ? आप लोगों की खोज में तो अकबरपुर के लोग बड़े परेशान हैं।" उनसे पता चला कि आश्रमवाले दो दिन तक हमारी ऐसी यात्रा को मजाक की बात समझते थे और सोचते थे कि ये लोग यहीं कहीं गाँव में टिके होंगे और दो-चार दिन में वापस आ जायँगे। किन्तु तीसरे दिन भी हम लोगों के न आने पर हमारी खोज के लिए इधर-उधर कार्यकर्ता दौड़ाये गये। हम लोगों ने नन्दी बाबू से कह दिया कि आप जाकर उन्हें सूचित कर दीजियेगा कि वे लोग अब हमारी आशा न करें। हम लोगों ने यहाँ से जबलपुर जाने का निश्चय किया है, वहाँ से विन्ध्याचल का दृश्य देखते हुए द्वारका जाने का। द्वारका से रामेश्वर और रामेश्वर से कलकत्ता जाने का विचार है। फिर यदि जीवित बचे, तो लौटकर आश्रम का दर्शन करेंगे। इस सारी यात्रा में दो वर्ष से कम न लगेंगे और दो वर्ष में संसार किधर-से-किधर चला जायगा, कौन जाने?

प्रयाग में

हम इलाहाबाद से दक्षिण की ओर अपने पूर्वनिश्चित मार्ग से आगे बढ़ने लगे। अधिकतर देहात से ही होकर हम यात्रा करते थे। लोगों से खाना माँगकर खाते थे और शाम को कहीं पड़कर सो जाते थे। दोपहर और शाम को किसी-न-किसी गाँव में टिकते थे और स्थानीय लोगों से बातचीत कर वहाँ की स्थिति जानने

दक्षिण की ओर

का प्रयत्न करते थे कि लोग कैसा जीवन व्यतीत करते हैं; उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है; सामाजिक आचार-विचार कैसे हैं आदि।

इस प्रकार यू० पी०, मध्यप्रदेश और गुजरात के विभिन्न गाँवों और शहरों का चक्कर लगाते हुए हम लोग लगभग ९०० मील की यात्रा करके अहमदाबाद पहुँचे। इस यात्रा में हमने अमीर कहे जानेवाले सम्भ्रान्त श्रेणी के लोगों के घर देखे, पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय बाबुओं के घर देखे, देहात के उच्च और भद्र कहे जानेवालों के घर देखे और गाँवों के गरीब किसान मजदूरों के घर भी देखे। कभी-कभी कोल-भील आदि जंगली जातियों के घरों में भी हमें रहना पड़ा। हमें अनुभव हुआ कि मनुष्य जैसे-जैसे उच्च श्रेणी में पहुँचता जाता है, ज्यों-ज्यों समाज उसे शिक्षित और सभ्य कहकर पुकारने लगता है, त्यों-त्यों उसमें गरीब और साधारण श्रेणीवालों के प्रति घृणा की मात्रा बढ़ने लगती है। प्रायः ऐसा भी होता था कि पेटभर भोजन प्राप्त करने के लिए हमें २०-२५ घरों की फेरी लगानी पड़ती थी और विभिन्न श्रेणियों के घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन माँगकर इकट्ठा करने में, उनके देने के ढंग को देखकर सहज ही उनकी मनोवृत्ति की थाह लग जाती थी। इस भिक्षाटन ने हमें यह भी अनुभव कराया कि यदि माताएँ न होतीं, तो हम लोगों को जो यत्किञ्चित् प्रेम और आदर मिला, वह भी नहीं मिलता। अतिथि अभ्यागत के प्रति सम्मान और आदर का व्यवहार करने की जो भारतवर्ष की पुरातन परम्परा थी, उसका अवशेष मातृ-जाति में ही देखने को मिलता है।

भीलों का आतिथ्य

एक दिन हम लोग ग्वालियर राज्य की सीमा सरदारपुर से सीधे पश्चिम की ओर चले। सरदारपुर तक तो हम सम्पन्न भू-भाग से होकर आये, किन्तु सरदारपुर से आगे केवल जंगल ही जंगल था। हमें लगभग १०० मील जंगल पार करना था। जंगलों के बीच कहीं-कहीं मनुष्यों की छोटी-छोटी बस्तियाँ भी देखने को मिल जाती थीं। ये बस्तियाँ भील लोगों की थीं। भीलों के यहाँ आश्रय ग्रहण करने में हम लोगों को बहुत आनन्द आता था। वे

अपनी स्थिति के अनुसार मक्के की रोटी, खीरा, साग-सब्जी आदि खाने को देते थे। भील दुनिया के सबसे गरीब प्राणी हैं, किन्तु जब हम उनके यहाँ अतिथि के रूप में पहुँच जाते थे, तो वे हमारे निकट बैठकर पहले हमें खाना खिला लेते थे और हमारे विश्राम का प्रबन्ध कर देते थे, तब स्वयं भोजन करने जाते थे। भोजन के बाद भी वे हमसे कुछ बातचीत करते थे। उनकी बातों में आदर, प्रेम और सदाचार की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी, किन्तु इतने पर भी संसार उन्हें असभ्य ही कहता है!

अगस्त का महीना था। एक दिन हमें रास्ते में घनघोर वर्षा का सामना करना पड़ा। बीच में कोई गाँव नहीं मिला, इसलिए हम लोग तेजी के साथ आगे ही बढ़ते चले गये। दो-तीन मील और चलने के पश्चात् एक बस्ती दीख पड़ी। हम लोग उसी ओर बढ़े और एक भील के घर पहुँचे। उस भील के घर में कोई स्थान ऐसा नहीं था, जहाँ पर पानी न चूता हो। किन्तु मैदान की अपेक्षा कुछ बचाव तो था ही, इसलिए हम लोग घर के भीतर एक स्थान पर खड़े हो गये। घर का मालिक हमें उस हालत में देखकर कहने लगा कि आप लोगों को यहाँ बहुतं कष्ट होगा, अच्छा हो आप पटेल के घर चले जायँ। वहाँ आपको कुछ सुख मिलेगा। उस सम्पूर्ण बस्ती में पटेल का ही घर सबसे अच्छा था। उसने एक छोटी लड़की को साथ भेजकर हमें पटेल के घर पहुँचा दिया। पर उस पटेल का घर देखकर तो हम हैरान रह गये। एक छोटा-सा घर था, उससे मिला हुआ एक लम्बा बरामदा बीच में था, जो दो भागों में बँटा हुआ था। जंगली लकड़ियों का एक परदा लगा था। रात के समय एक ओर पुरुष और एक ओर स्त्रियाँ रहा करती थीं। उसके सामने एक छोटी-सी मड़ई भोजन बनाने के लिए थी। पटेल के परिवार में वह स्वयं, एक बड़ा लड़का, एक लड़की और उसकी पुत्र-वधू थी। जिस भाग में पटेल और उसका बड़ा लड़का दोनों सोते थे, उसी भाग में उसने हम लोगों को भी आश्रय दिया। हम लोगों के पास ही उसी भाग में एक घोड़ा, दो बैल, एक बकरी और उसके बच्चे तथा पाँच-सात मुर्गियाँ भी

थीं। एक कोने में टूटी चारपाई, हल और घोड़े के जीन आदि सामान था। छप्पर से एक बाँस लटका हुआ था, जिस पर एक जीर्ण-शीर्ण कंघा, दो कमली और मैले गन्दे कपड़े रखे थे।

ये लोग बहुत कम कपड़े पहनते हैं। पुरुष कौपीन के आकार का एक चौड़े कपड़े का टुकड़ा बाँधते हैं और स्त्रियाँ कमर पर एक छोटा-सा टुकड़ा लपेट लेतीं और वक्षस्थल पर भी एक टुकड़ा बाँध लेती हैं। बच्चे नंगे ही रहते हैं। उसकी बड़ी लड़की, जो अनुमानतः बारह-तेरह वर्ष की रही होगी, केवल एक छोटी-सी गमछी लपेटे थी। हम लोग जब उस लड़की के साथ चले थे, तो रास्ते में ही पटेल मिल गया था। उसने हम लोगों को अपनी बैठक में लाकर बिठाया। उस बैठक का दृश्य एक कबाड़खाना, गोशाला और घुड़शाले आदि के समन्वित रूप-सा ही लगा। पहुँचते ही वह सारा परिवार वहाँ आ गया और दस-पन्द्रह मिनट हम लोगों के स्वागतार्थ वहाँ उपस्थित रहकर अपने-अपने काम पर चला गया। हम लोगों ने अपने गीले कपड़े उतारकर रख दिये और वहाँ पड़ी हुई खटोला-सी दो छोटी-छोटी चारपाइयों पर लेटकर गाँव के मुखिया की सम्पत्ति का गौर से निरीक्षण करने लगे। रात को उन्हीं दो चारपाइयों में से एक पर पटेल और उसका लड़का और दूसरी पर हम दोनों व्यक्ति सो रहे। प्रातःकाल हम लोगों ने देखा कि हमारे शरीर मुर्गों के मल-मूत्र से भर गये हैं। क्योंकि मुर्गों की गोष्ठी ठीक हमारे ऊपर टँगे हुए बाँस पर आराम कर रही थी! भोजन में हमें मक्के की रोटी और मक्के की दाल मिली थी। यह अवस्था उस इलाके के पटेल की है। अब तुम सरलतापूर्वक समझ सकती हो कि और लोगों की क्या दशा होगी?

जंगलों की यात्रा में भील हमें बड़ी सहायता देते थे। वहाँ रास्ता भूल जाने की आशंका सदैव बनी रहती थी। भील हमारे साथ चलकर हमें एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचा दिया करते थे। एक बार जंगली भूभाग में हम लोग तीन दिन तक आगे बढ़ते रहे। चौथे दिन

दोपहर के समय एक भील हमें एक गाँव से दूसरे गाँव को पहुँचाने साथ चला, किन्तु मार्ग में ही उसे एक दूसरा व्यक्ति मिल गया, जो किसी अत्यावश्यक कार्य के लिए उसे उसी गाँव को वापस ले गया, जहाँ से हम लोग चले थे। अतः विवश हो हम लोग बिना किसी पथ-प्रदर्शक के आगे बढ़े। अन्ततः जैसी हमें पहले से ही आशंका थी, शाम हो गयी; किन्तु कोई बस्ती नहीं मिल सकी। हमें विश्वास हो गया कि हम लोग रास्ता भूल गये हैं। उस जंगल में पगडण्डियाँ तो हर तरफ थीं, किन्तु हम लोग निश्चय नहीं कर सके कि किधर जायँ। अन्त में श्रीनिवासजी एक पेड़ पर चढ़ गये। उस पर से उन्हें कोई शहर की तरह अच्छी बस्ती नजर आयी। ऊपर ही से उन्होंने उसी दिशा की ओर निर्देश किया और मैंने उसके ही अनुसार अपने मन में दिशा का निश्चय कर लिया। कुछ देर चलने के उपरान्त एक पहाड़ी नदी पार करके हम लोग झाबुआ राज्य के सदर में पहुँचे।

झाबुआ के अनुभव

दिनभर की यात्रा और मार्ग भूलने की परीशानी ने हमें काफी थका दिया था, इसलिए एक मन्दिर के बरामदे में जाकर लेट रहे। थोड़ी देर के बाद खाना माँगने के लिए निकले; किन्तु बस्ती में जाने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ अधिकतर जैनी रहते हैं। २०-२५ घरों का चक्कर लगाने पर अनाज का एक दाना भी नहीं मिला। अन्त में निराश होकर फिर उसी स्थान पर आकर बैठ गये। किन्तु ५-७ मिनट के ही पश्चात् तीन आदमी वहाँ आये और हम लोगों को वहाँ से हट जाने का आदेश दिया। हम लोग भूख और थकान से चूर-चूर हो रहे थे, अतः वहाँ से जाने को जी नहीं चाहता था, इसलिए बैठे-ही-बैठे उनसे वाद-विवाद करने लगे। तब तक तीन-चार आदमी और आ गये और अन्त में हम लोग वहाँ से हटने को बाध्य हुए। जिस समय हम लोग वाद-विवाद में लगे थे, उस समय एक महाराष्ट्रीय महिला सड़क पर खड़ी सारा दृश्य देख रही थी। हम लोग जब उतरकर नीचे आये, तो कहने लगी कि महाराज की ड्योढ़ी पर आज खाना बँटनेवाला है, वहाँ से खाना लेकर

वहीं शिव-मन्दिर में आराम करना। हम लोगों ने उसे धन्यवाद दिया और महाराज की कोठी पर जा पहुँचे। वहाँ बहुत से कंगाल और फकीर दो लाइनों में बैठे हुए थे, हम लोग भी उसी लाइन के अन्त में जाकर बैठ गये। कुछ देर बाद एक हट्टा-कट्टा राजपूत चपरासी बहुत से आदमियों के सिर पर खाना लदवाये आया। खाना क्या था? बड़े-बड़े लड्डू थे। वह हर व्यक्ति को दो-दो लड्डू देता जाता था और राजा की जय बुलवाता जाता था। एक लड्डू का वजन पावभर से कम नहीं रहा होगा। उसने हमें भी लड्डू दिये और राजा की जय बोलने को कहा। हम लोगों ने जय बोलने से इनकार किया। इस पर वह मारने को दौड़ा। हम लोग भाग चले और एक तालाब के पास पहुँचकर लड्डू खाने का उपक्रम करने लगे।

लड्डू इतने कड़े थे कि लाख प्रयत्न करने पर भी दाँतों से नहीं टूट सके, इसलिए उन्हें पत्थर पर रखकर पत्थर से ही चूर किया गया और खाना प्रारम्भ हुआ। घबराहट और थकावट के कारण गला इतना सूख रहा था कि पानी पी-पीकर भी लड्डू को गले के नीचे उतारना कठिन हो गया। अन्ततोगत्वा लड्डू गमछे में बाँधकर शिव-मन्दिर में पहुँचे। थोड़ी देर बाद श्रीनिवास ने कहा कि भाई, भूख बड़े जोर से लगी है, चलो एक बार और प्रयत्न करें। सम्भव है, कहीं रोटी मिल जाय। मैंने कहा, जैनियों की बस्ती है, जब खाने का समय था, तब तो कुछ मिला ही नहीं, अब इतनी रात को किसके घर में खाने को रखा होगा? चुपचाप पड़े रहो, सवेरे देखा जायगा। किन्तु वह राजी नहीं हुआ। अतः हम दोनों फिर रोटी की खोज में निकल पड़े। कई बार इधर-उधर घूमते देखकर एक सज्जन ने अपने बँगले के बरामदे से हमें बुलाया और पूछा—"तुम लोग किधर जाओगे? कहाँ घूम रहे हो?" मैंने कहा—"घूम कहीं नहीं रहे हैं, हम भूख-प्यास से व्याकुल हैं, खाना चाहिए।" यह सुनकर वह हम लोगों को बगल के गोपाल-मन्दिर में ले गया और हमें ठाकुरजी का भोग दिलवाया। भोग मुलायम था, हमने उसे सरलता

से खा लिया। खाने के बाद हम लोग फिर उसके बँगले पर गये। वह अब तक बरामदे में ही बैठा हुआ था। अब उसने फिर हमसे बातचीत शुरू की और पूछा कि तुम लोग कहाँ जाओगे ? उसका लड़का भी वहाँ आ गया। वह कहीं ऑफिस में नौकर था। उससे हम लोगों ने दाहोद का रास्ता पूछा। नकशे से हमने देख लिया था कि दाहोद झाबुआ से २०-२५ मील की दूरी पर है। रास्ता पूछने पर लड़के ने कहा कि यदि कुछ लिखना-पढ़ना जानते हो, तो लिख लो। मैंने उत्तर दिया कि थोड़ा-थोड़ा जानता तो हूँ, किन्तु श्रीनिवास को न जाने क्या सूझा, उसने कहा—हाँ, बी० ए० तक पढ़े हैं। उस बुड्ढे ने जब यह सुना कि हम लोग बी० ए० तक पढ़े हैं, तो वह एकाएक कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। अब तक वह हमें नीची निगाह से देखता था, किन्तु अब सहसा उन सबकी आकृति बदल गयी, भाषा बदल गयी और व्यवहार में परिवर्तन हो गया। अब तक हमें कोई बैठानेवाला नहीं था, किन्तु अब बैठने के लिए कुर्सी मिल गयी और वे दोनों ही व्यक्ति बड़े शिष्टाचार के साथ बातचीत करने लगे और इस बात की कोशिश होने लगी कि हम लोग रेलगाड़ी से ही जायँ। देखा न, ज्यों ही उन्हें ज्ञात हो गया कि हम भी उन्हींकी श्रेणी के आदमी हैं, तो किस प्रकार दुनिया बदल गयी ? हमने उन्हें उनके इस सौजन्य के लिए धन्यवाद दिया और कहा कि हम लोग पैदल यात्रा करने का निश्चय करके निकले हैं, गाड़ी पर नहीं चढ़ेंगे। उन्होंने कहा कि आप लोग यहीं ठहर जाइये, प्रातःकाल रास्ता बता दिया जायगा, किन्तु हम लोगों ने शिव-मन्दिर में रहने का निश्चय प्रकट किया और अनेक धन्यवाद देकर वहाँ से चल दिये।

व्यवहार में सहसा परिवर्तन

शिव-मन्दिर में उस दिन कोई उत्सव था, आरती हो रही थी, कुछ लोगों की भीड़ थी। हम लोग मन्दिर के एक कोने में कम्बल बिछाकर बैठ गये और मैं स्वामी रामतीर्थ का उपदेश पढ़कर सुनाने लगा। चलते समय स्वामी रामतीर्थ का 'इन उड्स ऑव गॉड रियलाइजेशन',

एक छोटी-सी रामायण और न्यू टेस्टामेंट लेकर हम निकले थे। मार्ग में जहाँ आराम करने का अवसर मिलता था, पढ़ते थे। मुझे रामतीर्थ का उपदेश पढ़ते देखकर कुछ नौजवान वहीं आकर बैठ गये और सुनने लगे। मैंने एक अध्याय समाप्त कर लिया, तो वे पूछने लगे—"अच्छा, आप लोग अंग्रेजी भी जानते हैं?" तब तक एक महाशय पीछे से बोल उठे—"अरे, यह बी० ए०, एल-एल० बी० हैं!" हमें बड़े जोर की हँसी आयी, किन्तु गम्भीर होकर बैठे रहे और उन लोगों से बातचीत करते रहे। थोड़ी देर के बाद जब सब लोग मन्दिर से चले गये, तो वह बी० ए०, एल-एल० बी० कहनेवाले महाशय रुक गये और हमें एक आदमी देकर कह गये कि यह आदमी आप लोगों को आठ मील जंगल पार कराकर दोहद जानेवाली सड़क पर पहुँचा देगा। यह महाशय वही थे, जिनके घर हम लोग रात को गये थे।

कुछ दिन बाद हम लोग साबरमती पहुँच गये और कीकी बहन के यहाँ ठहर गये। वहाँ पहुँचकर दादा का पत्र मिला कि जब तक हम न आयें, तब तक आगे न बढ़ें। अहमदाबाद में दादा के कुछ मित्र सपरिवार रहते थे। दादा के नाते हमारा भी उनसे परिचय हो गया था, किन्तु हम लोगों के ग्रामीण रंग-ढंग देखकर उन लोगों की नाक-भौं हमेशा सिकुड़ी रहती थी और उनके व्यवहार में काफी घृणा और अनादर की भावना परिलक्षित होती थी।

दादा के साबरमती आने पर उनके कहने के अनुसार हम लोगों ने आगे बढ़ने का प्रोग्राम छोड़ दिया और आश्रम की ओर लौट पड़े और कुछ ही दिनों में आश्रम पहुँच गये। उस समय आश्रम में मेरे लिए कोई खास काम नहीं था, इसलिए लोगों ने मुझे आश्रम के शुभाकांक्षी श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय की सेवा में लगा दिया, जो उस समय महात्माजी के अनशन के सिलसिले में दिल्ली में मौजूद थे। मैं उनके साथ कलकत्ता चला गया।

●●●

निश्चित प्रयोग की चेष्टा

२६-८-'४१

श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के साथ दो माह बाद मैं कलकत्ते से बनारस चला आया। इसी बीच आश्रम के मंत्री श्री विचित्रभाई बहुत अधिक बीमार पड़े और उनके लिए दो-तीन साल का आराम लेना जरूरी हो गया। एक दिन दादा ने मुझसे इस कार्य का भार ग्रहण करने को कहा, किन्तु मैं इस उत्तरदायित्व को उठाने के लिए तैयार नहीं था; क्योंकि एक तो मैं अपने को इस काम के योग्य नहीं समझता था और दूसरे यह कि यदि मैं प्रधान कार्यालय की जिम्मेदारी लेता हूँ, तो देहात से मेरा सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इतने दिनों तक देहात में रहते-रहते मुझे देहात से बहुत प्रेम हो गया था और मेरी प्रकृति भी कुछ इस प्रकार की हो गयी थी कि शहरी जलवायु और शहरी लोगों से एक प्रकार की अरुचि-सी उत्पन्न हो गयी थी। किन्तु दादा ने बाध्य किया कि "जो कर सको वही करो, जो न समझ में आये, विचित्रभाई से पूछ लिया करो।" इस प्रकार दादा के आदेशानुसार मैंने प्रधान कार्यालय का भार ग्रहण किया और तब से गाँव से मेरा सम्बन्ध छूट-सा गया।

सन् १९२८ में समाचारपत्रों में बारडोली सत्याग्रह का विवरण देखने को मिलने लगा। जब मैंने वहाँ के संगठन का विवरण पढ़ा, तो मुझे ऐसा लगा कि इस तरह के संगठन के लिए अवध भी बहुत सुन्दर क्षेत्र है। प्रधान कार्यालय का कार्य करते हुए भी देहात के कार्य की योजना फिर मेरे मस्तिष्क में स्फुरित होने लगी। उसी वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था; कुछ कारणवश उस साल हम लोग वहाँ की प्रदर्शनी में खादी की दूकान नहीं ले जा सके, किन्तु आश्रम से खादी भेजी जा चुकी थी। इसलिए प्रदर्शनी के बाहर इस खादी को विक्रय करने का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। जिस कोठी में महात्मा गांधी ठहरे हुए थे,

उसीके एक कमरे में दूकान खोलकर मैंने खादी बेचना प्रारम्भ किया। गांधीजी की कोठी में जो लोग ठहरे हुए थे, उनमें से कितने ही लोगों ने बारडोली के संगठन में काम किया था। मैं उन लोगों से वहाँ का विवरण पूछता रहा और इस प्रकार पुनः मुझमें ग्राम-संगठन की उत्कंठा जाग उठी।

कलकत्ता से वापस आते ही आश्रमी भाइयों के समक्ष मैंने यह प्रस्ताव रखा कि मुझे पुनः उत्पत्ति-केन्द्रों में काम करने का अवसर दिया जाय, किन्तु उन लोगों ने इसे नहीं स्वीकार किया। फिर भी मेरे मस्तिष्क में गाँव की बातें चक्कर काटने लगीं। इसी समय स्वास्थ्य खराब हो जाने से मैंने लम्बी अवधि की छुट्टी ले ली, जिससे प्रधान कार्यालय की जिम्मेदारी श्री अविनाश भाई के ऊपर आ पड़ी। मैं कश्मीर चला गया और लगभग तीन माह तक वहाँ रहा। श्री कृष्णदास गांधी भी वहाँ स्वास्थ्य-सुधार के लिए आये हुए थे। संयोग से हम लोग एक ही कमरे में रहते थे और गाँव के कार्य की बाबत आपस में विचार-विनिमय किया करते थे। श्री कृष्णदास भाई गुजरात के देहात में काम कर चुके थे। गाँवों के सम्बन्ध में मैं उन्हें अपनी कल्पना बताया करता था और उनकी समालोचना भी सुना करता था। इस प्रकार मैंने कश्मीर के प्रवास-काल में ही देहात के सम्बन्ध में कुछ योजनाएँ बना डालीं। उस समय तक ग्रामोद्योग की बात मेरे भी मस्तिष्क में नहीं आयी थी, किन्तु कृष्णदास भाई से वस्त्र-स्वावलम्बन-योजना की बात सुनकर ही मेरे मस्तिष्क में उसी योजना को केन्द्र बनाकर ग्राम-सेवा का कार्य करने की कल्पना प्रस्फुरित हुई।[१] उस समय मैंने जिस योजना की कल्पना की थी, वह इस प्रकार थी :

ग्राम-कार्य की योजना

---

१. पता नहीं कृष्णदास भाई से यह प्रथम चर्चा भगवान् की किस लीला की परिचायक थी। उस समय कौन जानता था कि २० साल बाद १९४८ में मुझे चर्खा-संघ के अध्यक्ष और कृष्णदास भाई को उसके मंत्री की हैसियत से मिलकर देश-व्यापी वस्त्रस्वावलम्बन कार्य के माध्यम से समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम चलाना होगा। १६-९-'५०

१. कई गाँवों के मध्य में आश्रम बनाकर देहात के नौजवानों को कताई और धुनाई की शिक्षा दी जाय और उनके द्वारा देहात का कार्य किया जाय।

२. प्रधान कार्यक्रम वस्त्र-स्वावलम्बन का ही हो, किन्तु साथ ही गाँव की सफाई, प्रौढ़-शिक्षा, ग्राम-सेवक-दल का संगठन, पंचायतों की स्थापना तथा स्त्री-शिक्षा आदि देहात के सर्वांगीण सुधार का कार्यक्रम रहे।

३. देहात के लोगों को हर प्रकार की शिक्षा और मार्ग-प्रदर्शन मिलता रहे।

कश्मीर में ही मैंने इस कल्पना को एक योजना के रूप में लिख डाला और अपने पास रख लिया। छुट्टी के पश्चात् अगस्त में मैं मेरठ लौट आया और सहयोगी भाइयों से इस सम्बन्ध में वार्ता की, किन्तु उस समय हम आश्रम की ओर से इस प्रकार के विशेष प्रोग्राम बनाकर कार्य करने के लिए तैयार नहीं थे और न आश्रम के पास इतने साधन ही थे कि वह इसके लिए कुछ पूँजी लगा सके। इसलिए इसकी चर्चा विशेष गम्भीर रूप से न हो सकी। मैं भी पुनः प्रधान कार्यालय का चार्ज लेकर कार्य करने लगा।

कुछ ही दिन बाद श्री शंकरलाल बैंकर मेरठ आये। मैंने अपनी योजना उनके समक्ष रखी। शंकरलालभाई भी इन दिनों स्थान-स्थान पर वस्त्र-स्वावलम्बन के केन्द्र खोलने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें मेरा कार्यक्रम पसन्द आ गया और उन्होंने कहा कि आप केवल वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य करते हैं, तो मैं चर्खा-संघ की ओर से इसका व्यय सहन करने के लिए तैयार हूँ। मैंने उनसे कहा कि गाँव के कार्य के सम्बन्ध में मेरा जो कुछ भी अनुभव है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि गांधीजी ग्राम-संगठन के सम्बन्ध में जितने प्रकार के कार्यक्रम आवश्यक समझते हैं, उन सभी को समग्र रूप से गाँवों के मध्य एक साथ संचालित करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है, क्योंकि एक कार्यक्रम दूसरे कार्यक्रम पर प्रभाव

डालता है। यदि हम ग्राम-जीवन के प्रत्येक अंग पर सुधार की योजना नहीं बनाते, तो केवल एक ही कार्यक्रम लेकर हम सफल नहीं हो सकते। किसी भी नये कार्यक्रम को चलाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह होती है कि जिनके भीतर यह नया कार्यक्रम लेकर चलना है, उनमें नवीनता को ग्रहण करने की मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी हो। यह मनोवृत्ति तभी उत्पन्न होती है, जब उनके जीवन की गति में नये दृष्टिकोण का विकास हो जाता है। यदि हम कोई एक ही एकाङ्गी कार्यक्रम लेकर कोई आर्थिक सुविधा प्राप्त कर कुछ दिन उसे चला भी दें, तो उसमें जड़ता ही रहेगी, जीवन नहीं आ सकेगा। जीवन उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम सर्वप्रथम देहात में एक ग्राम-सेवा-शिक्षा-केन्द्र खोलकर उसमें सर्वतोमुखी विकास की योजना चलायें। इतना अवश्य है कि वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य मुख्य रहेगा और इसीको केन्द्र मानकर दूसरे कार्यक्रम भी परिधि-क्षेत्र के भीतर चलते रहेंगे।

समग्र दृष्टि की आवश्यकता

इसी योजना पर देर तक विचार-विनिमय हुआ। अन्ततः शंकरलाल भाई को इस योजना के सिद्धान्त स्वीकार करने पड़े और कुछ बातों के अतिरिक्त उन्होंने सभी बातें विवरणसहित स्वीकार कर लीं। उन्होंने कहा कि जिस क्षेत्र में आप काम करना चाहते हैं, उसे मैं स्वयं देखना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि वह क्षेत्र वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए अनुकूल है अथवा नहीं। मैंने योजना तो बना ली थी, किन्तु गाँव का चुनाव नहीं किया था और न मेरठ के देहात के सम्बन्ध में कोई जानकारी ही रखता था। अतएव मैंने उनसे कह दिया कि आज शाम तक गाँव का चुनाव कर लूँगा। कल सवेरे देखने चलेंगे। सहयोगियों की सम्मति से सरधना तहसील के रासना ग्राम में कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय हुआ और दूसरे दिन प्रातःकाल हम लोग श्री शंकरभाई को साथ लेकर रासना के लिए चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर श्री शंकरलालभाई ने गाँव में घूमकर वहाँ के निवासियों से बातचीत की और हमें कार्य प्रारंभ करने की

स्वीकृति दे दी। इसलिए हम लोगों में से श्री श्यामजीभाई कार्य प्रारम्भ करने के लिए वहाँ भेजे गये। प्रारम्भ में कई दिनों तक मैं भी उनके साथ वहाँ टिका रहा और गाँव के व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करता रहा। अवध के गाँवों के विषय में मेरी जो धारणा थी, वह यहाँ न रह सकी। यहाँ के लोग न उतने अधिक गरीब थे, न उतने अधिक अशिक्षित ही। प्रायः सभी मकान अच्छी कोटि के थे; अधिकांश का अग्रभाग विल्कुल पक्का था। यहाँ अधिकतर तगा जाति के लोग निवास करते थे। लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। ये लोग अवध के किसानों की तरह दवी हुई प्रवृत्ति के नहीं थे। शिक्षा का भी इनमें अच्छा प्रचार था। इसके अतिरिक्त यहाँ आर्य-समाज का भी अच्छा संगठन था। इसलिए अवध के किसानों की अपेक्षा उनमें दकियानूसीपन बहुत कम था। स्त्रियों में पर्दे का रिवाज उतना अधिक नहीं था, जितना पूर्वी जिलों में पाया जाता है।

रासना गाँव में एक बहुत सुन्दर पक्का मन्दिर है और गाँव की ओर से एक पक्की चौपाल बनी हुई है, जिसमें कोई भी व्यक्ति आकर ठहर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि गाँव की कोई पंचायत होती है, तो उसकी बैठक इसी चौपाल में होती है। चौपाल की देखभाल की जिम्मेदारी भी सारे गाँव के लोग वहन करते हैं। हम लोगों ने भी इसी चौपाल में आश्रय लिया। पहले दिन से ही मुझे यहाँ का वातावरण अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हुआ। लोगों की शिक्षा, शिष्टाचार और नयी चीजों के समझने की प्रवृत्ति देखकर मुझे कुछ ऐसा लगा कि जितना काम मैं यहाँ सालभर में कर सकूँगा; उतना अकबरपुर की ओर पाँच साल में भी न हो सकेगा। दो बातों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया :

रासना की विशेषताएँ

१. चौपाल का होना—जिसका मुख्य अभिप्राय यह था कि पंचायती और सम्मिलित समाज का संस्कार इस इलाके में अब तक वर्तमान है।

२. घर-घर में चर्खे की उपस्थिति ।

जिस चर्खे और पंचायत के लिए मैं टाँडा के देहात में मारा-मारा फिरता था, वे दोनों वस्तुएँ यहाँ पहले से ही मौजूद थीं ।

मैं चार-पाँच दिन तक रासना में ही ठहर गया । रासना तथा उसके आसपास के गाँवों में खूब घूमा । सन्ध्या समय रासना के लोग स्वयं चौपाल में आ जाते थे, हम लोग उनसे अपनी योजना पर विचार-विमर्श करते थे । पाँच-छह दिन के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि ये लोग हमारी योजना को भलीभाँति समझ गये हैं और उसे चलाने के लिए इनमें काफी उत्साह है ! मैं चार-पाँच दिन रुककर श्री श्यामजीभाई को वहाँ के कार्यक्रम का संचालक बनाकर मेरठ चला आया । श्यामजीभाई ने उनमें धुनाई और कताई सिखाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया । मैं प्रति सप्ताह एक बार रासना चला जाता था और उस गाँव के लोगों को हर प्रकार के सुधार की प्रेरणा देता रहता था । कुछ दिन बाद किसानों और उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए एक रात्रि-पाठशाला खोल दी गयी । मैंने देखा कि किसानों के बच्चे दिन में खाली नहीं रह सकते । जिस दिन से वे कुछ सज्ञान होते हैं; उसी दिन से उन्हें जानवरों को चराना, उनके लिए घास छीलना, गृहस्थी के काम में सहायता पहुँचाना, गोबर बटोरना तथा जंगल की लकड़ी चुनकर लाना आदि काम करने पड़ते हैं और वे दिनभर इन्हीं कामों में फँसे रहते हैं । देहात में हम निःशुल्क शिक्षा का कितना भी उत्तम प्रबन्ध क्यों न करें, किन्तु जब तक देहात की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन नहीं होता, तब तक वहाँ के बच्चे पाठशालाओं में उपस्थित होने में असमर्थ हैं । इसीलिए मैंने रात्रि-पाठशाला की योजना बनायी । इससे हमें एक और लाभ हुआ । उसी गाँव के पास के प्रारम्भिक स्कूल के अध्यापक श्री रामदासभाई उस रात्रि-पाठशाला में अवैतनिक रूप से पढ़ाने को तैयार हो गये । इस प्रकार वस्त्र-स्वावलम्बन के साथ-साथ शिक्षा और गाँव की सफाई का कार्य होने लगा ।

धुनाई, कताई और रात्रि-पाठशाला

अखिल भारतीय चर्खा-संघ के मंत्री श्री शंकरलालभाई जब मेरठ आये थे, तो उन्होंने मुझे यह बताया था कि जिस क्षेत्र में वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य होगा, उस क्षेत्र में चर्खा-संघ या आश्रम की ओर से सूत की खरीद नहीं होनी चाहिए। मैंने वस्त्र-स्वावलम्बन के पण्डित श्री जेठालालभाई से भी सम्मति ली, तो उनकी बातों से श्री शंकरलालभाई की ही बात प्रमाणित हुई। अतएव मैंने उस क्षेत्र की सूत-खरीद बन्द करा दी। सूत-खरीद बन्द हो जाने के पश्चात् रासना का कार्य शिथिल होने लगा और कुछ ही दिनों में उन दो-चार परिवार के लोगों को छोड़कर, जिनके साथ हम लोग विशेष घनिष्ठता रखते थे, शेष सभी लोगों की सहानुभूति उस कार्य से समाप्त-सी हो गयी। मैं रासना जाकर इसका कारण अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इस सम्बन्ध में उस गाँव तथा आसपास के गाँवों के बहुत-से लोगों से बातें कीं। इससे कुछ इस क्षेत्र की जनता के प्रति मेरी धारणा बदल गयी। मुझे लगा कि इनमें दिखाऊपन और स्वार्थपरता ही अधिक है। आदर्श की बात उनकी समझ में नहीं आयी। इसलिए मैंने सोचा कि जब तक हम इनके सूत का कुछ भाग खरीद नहीं लेते, तब तक इनमें वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्यक्रम चलाना कठिन है। सदियों की शहरी और बाजारू सभ्यता हमारे ग्राम-समाज को ऐसी शैली में ढाल चुकी है कि आज कोई भी काम बगैर बाजारू मनोवृत्ति के करना कठिन हो गया है। इस इलाके में घूमने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि हमें वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्य में सफल होना है, तो आवश्यक है कि उनके सूत के लिए बिक्री का बाजार खोल दें तथा प्रचार और शिक्षा द्वारा उन्हें इस बात के लिए तैयार करें कि अपना कता हुआ सूत अधिक-से-अधिक अपने ही प्रयोग में लायें। इसके साथ ही एक बात और भी समझ में आयी कि वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए अन्य प्रकार की आय में से कपड़े के लिए खर्च करना ठीक नहीं, क्योंकि इस कार्य के लाभ को वे तभी समझ सकते हैं, जब उन्हें इसके लिए कुछ

सूत न खरीदने की नीति की निष्फलता

खर्च न करना पड़े। इस स्थिति में हम उन्हें समझा सकेंगे कि वे कपड़े के लिए घर का कितना अनाज बाहर भेज देते हैं। यह तभी हो सकता है, जब उनकी खादी के तैयार होने का अन्य व्यय उनकी बढ़ती सूत की बिक्री से प्राप्त हो जाय। इन सब बातों पर सोचने से मुझे स्वावलम्बन-क्षेत्र में सूत न खरीद करने की पद्धति भ्रमपूर्ण प्रतीत हुई। इसलिए मैंने पुनः वहाँ का सूत खरीद लेने की क्रिया शुरू कर दी। दूसरी बाधा बुनाई की थी। उस देहात में कुछ ऐसे बुनकर थे, जो २७ इंच अरज का कपड़ा बुना करते थे। वहाँ के लोग उनसे पहले भी दोहर आदि के लिए मोटे कपड़े स्वयं बनवा लिया करते थे। कुछ दिन प्रचार करने के पश्चात् और बुनाई-कताई की शिक्षा देने के बाद लोग बारीक सूत भी कातने लगे और धोती आदि बनवाने का आग्रह करने लगे।

श्यामजीभाई साबरमती आश्रम में कई वर्ष तक बुनाई का काम सीख चुके थे। उस गाँव के पास का ही एक बुनकर आश्रम की खादी बुना करता था। उसीको श्री श्यामभाई की संरक्षकता में लम्बे अरज का कपड़ा बुनने को देकर गाँववालों की माँग पूरी करने की व्यवस्था की गयी। श्री श्यामजीभाई के द्वारा उस बुनकर की कठिनाइयाँ भी सुलझ जाती थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे वहाँ के लोग स्वावलम्बी होने लगे।

कुछ दिन बाद श्री श्यामजीभाई अपनी पत्नी गुलबदन बहन और अपनी छोटी बच्ची को भी वहाँ पर ले आये।

मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि गाँव का पुनर्गठन तब तक असम्भव है, जब तक वहाँ की स्त्रियाँ शिक्षित न कर दी जायँ और उनका सुधार न हो जाय। गुलबदन बहन के जाने से मुझे इस दिशा में भी कुछ करने का अवसर मिला। एक दिन मैंने रासना गाँव के लोगों को बुलाकर यह समझाया कि प्राचीन काल में हमारे देश की स्त्रियाँ कैसी रहीं और आज कैसी हो गयी हैं। मैंने बताया कि संसार और समाज का मूल संगठन स्त्रियों के हाथ में है। जब तक ये नहीं चाहतीं, तब तक हम और आप समाज को एक पग

स्त्रियों का शिक्षण और सुधार

भी आगे नहीं बढ़ा सकते। गृहस्थी में पुरुष चाहे जितनी भी आय करे और चाहे कितना ही उत्तम प्रबन्ध करे, किन्तु स्त्री यदि अयोग्य और संयम-हीना हुई, तो सारा घर नाश हो जाता है; दूसरी ओर पुरुष कितना भी गरीब क्यों न हो, किन्तु यदि स्त्री सुप्रबन्धकारिणी हुई, तो घर की रक्षा हो जाती है। इन्हीं घरों और गाँवों की समष्टि का ही नाम समाज या संसार है। गाँववालों ने मेरी बातें समझ लीं और इस दिशा में उत्साह दिखाने लगे। हम लोगों ने आपस में सलाह करके जिस घर में श्यामभाई रहते थे, उसी घर के एक दालान में स्त्रियों के लिए एक महिला विद्यालय खोल दिया। किन्तु उसमें केवल लड़कियाँ ही आती रहीं। घर की बहुएँ नहीं आती थीं। हमने यह सोचकर कि स्त्री-शिक्षा की दिशा में कुछ-न-कुछ तो हो ही रहा है, इतने पर ही सन्तोष किया और उन्हींको लेकर विद्यालय चलाने लगा।

महीने पर महीने बीतने लगे और उत्तरोत्तर आश्रम के प्रति गाँव-वालों की सहानुभूति में वृद्धि होने लगी। योजना के एकाध एकदेशीय कार्यक्रम उन्नति करते रहे। किन्तु जो योजना हम लोगों ने कश्मीर में बनायी थी, उसे सक्रिय रूप देने का अभी तक कोई मौका नहीं मिला। देहात के मध्य में केन्द्रीय आश्रम बनाकर ग्रामीण समाज के सर्वाङ्गीण पुनर्सङ्गठन की कल्पना अब तक कल्पना ही बनी रही। मैं इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर ढूँढ़ा करता था, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि मैं पर्याप्त समय तक रासना रह सकूँ। अतः मैंने विचार किया कि यदि श्री अविनाशभाई प्रधान कार्यलय का कार्य चला लें, तो मुझे काफी समय तक गाँवों में रहने की सुविधा मिल जायगी। इसी ध्येय से मैं अविनाशभाई को रासना ले गया और उनसे अपनी योजना के सम्बन्ध में बातचीत की। उन्होंने मुझे निश्चित आश्वासन दिया कि आप अपने इच्छानुसार निश्चित समय तक रासना गाँव में रह सकते हैं। फिर क्या था? मैं रासना में ठहर गया और इस क्षेत्र के विशेष व्यक्तियों से अपने कार्यक्रम के विषय में चर्चा की। उन लोगों ने मुझे

काफी उत्साहित किया और रासना के दो-तीन मित्रों ने गाँव से कुछ दूर मुझे लगभग दस बीघे जमीन दान कर दी। इस स्थान पर लगभग १०० बीघे परती जमीन थी, जो उसी गाँव के लोगों की थी। गाँववालों ने आश्वासन दिया कि आप आवश्यकता पड़ने पर और अधिक जमीन ले सकते हैं। जिन मास्टर साहब ने रात्रि-पाठशाला में रात को पढ़ाने का भार उठाया था, उन्होंने तो आश्रम के ही हाते में घर बनाकर सपरिवार रहने का वादा किया। इसके लिए श्री शंकरलालभाई ने १८००) की स्वीकृति चर्खा-संघ से आश्रम को प्रदान की और हम लोगों ने वहाँ आश्रम खोलने का निश्चय कर लिया।

इसी समय चर्खा-संघ का कार्य आश्रम की सुपुर्दगी में आ गया और श्री विचित्रभाई, जो इन दिनों चर्खा-संघ के मंत्री का कार्य कर रहे थे, मेरठ आ गये और उन्होंने आश्रम के प्रधान कार्यालय का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। मुझे आशा बँध गयी कि मैं अब अवकाश पाकर ग्राम-सेवा का कार्य-भार लेकर पुनः रासना में बैठ सकूँगा, किन्तु ऐसा हो नहीं सका।

इसी समय सन् १९३० के सत्याग्रह का युद्ध छिड़ गया। चारों ओर से खादी की माँग बेहद बढ़ गयी। इधर चर्खा-संघ की जिम्मेदारी आश्रम के सिर पर आ पड़ने से आश्रम पर बहुत बोझ पड़ गया और आश्रम के खादी-उत्पत्ति के कार्य से मुझे छुट्टी न मिल सकी। मुझे मेरठ क्षेत्र के बाहर के केन्द्रों की देखभाल करने का काम मिला था। तीन-चार माह की अवधि में जब कार्य कुछ संगठित हो चला और मुझे पुनः छुट्टी मिलने की आशा हुई, तो अचानक श्री शंकरलालभाई मेरठ आये और बंगाल के अभय आश्रम के सभी कार्यकर्ताओं के जेल जाने के कारण उन्होंने आश्रम से मेरी सेवा अभय आश्रम के लिए माँगी। फलतः उसी समय बङ्गाल चला जाना पड़ा और जो रूप मैंने रासना का सोच रखा था, वह नहीं हो सका। इधर कुछ दिनों बाद श्री श्यामजीभाई भी गिरफ्तार कर लिये गये। इसलिए वहाँ के काम को और भी धक्का लगा और आन्दोलन के दिनों में लगभग नहीं के बराबर रह गया। कालान्तर में

कुछ नौसिखुये कार्यकर्ता आश्रम की ओर से वहाँ भेजे गये, किन्तु अनुभवी कार्यकर्ता के अभाव में वहाँ के कार्य में उन्नति नहीं हो सकी। सन् १९३१ में मुझे अभय आश्रम से छुट्टी मिल गयी और मैं पुनः आश्रम की सेवा में लौट आया। एक बार फिर रासना को पुनर्गठित करने की कोशिश की, किन्तु आश्रम मुझे सर्वदा के लिए वहाँ बैठने का समय न दे सका। दो-एक कार्यकर्ता बढ़ाकर वहाँ के कार्य-विकास का प्रयत्न किया गया। दादा और विचित्रभाई भी इस काम में दिलचस्पी लेने लगे और वहाँ भेजे गये कार्यकर्ताओं को बराबर चेतावनी देते रहे। मैं बाहर के केन्द्रों का दौरा करता रहा, इसलिए मेरा सम्पर्क रासना से टूट गया। फिर मैं उस देहात में नहीं जा सका। इसी समय सन् १९३२ की लड़ाई छिड़ गयी। विचित्रभाई आदि बहुत से कार्यकर्ता जेल चले गये और रासना का काम ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। जो लड़के उस केन्द्र में काम करते थे; वे सब भी गिरफ्तार कर लिये गये।

सन् १९३२ ई० के आन्दोलन-काल में गांधीजी के निर्देशानुसार आश्रम आन्दोलन से अलग रखा गया था, फिर भी वह सरकार के दमन-चक्र से बच न सका। आश्रम के कितने ही केन्द्र सरकार द्वारा जब्त कर लिये गये। इन्हींमें रासना भी था। इसके बन्द हो जाने से आश्रम की ओर से उस देहात का कार्य बन्द-सा हो गया था। किन्तु जब विचित्रभाई जेल से छूटकर आ गये, तो हम लोग पुनः देहात के पुनर्सङ्गठन की चर्चा करने लगे। लड़के भी जेल से छूटकर आ गये थे। इसी अवधि में हजारीबाग जेल से दादा का विचित्रभाई के नाम एक पत्र आया, जिसमें उन्होंने देहात के काम पर जोर देने को लिखा था और कार्य का एक निश्चित ढंग भी लिख भेजा था। उनकी कल्पना थी कि गाँवों के मध्य एक हाईस्कूल खोलकर और उसीको केन्द्र बनाकर हर प्रकार की सुधार-योजना का कार्यक्रम चलाना होगा। दादा का यह पत्र पढ़कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई, क्योंकि उन्होंने मुख्यतः विचित्रभाई पर ही इस कार्यक्रम का भार दिया था। इसलिए विचित्रभाई ने प्रधान कार्यालय का

उत्तरदायित्व नहीं लिया। मुझे इस बात से भी प्रसन्नता हुई कि जब आश्रम के सबसे उत्तरदायी भाई गाँव में जाकर बैठेंगे, तो आश्रम के कार्यक्रम में ग्राम-संगठन का ही कार्य प्रधान हो उठेगा और हम लोगों को भी धीरे-धीरे देहात में जाने का अवसर मिलेगा। सरकार ने जब रासना केन्द्र वापस किया, तो मैंने विचित्रभाई पर वहाँ बैठने के लिए जोर दिया। विचित्रभाई रासना चले भी गये, किन्तु कई कारणों से बाध्य होकर कुछ समय बाद उन्हें मेरठ वापस चला आना पड़ा। फिर वे मेरठ से ही आश्रम के कुछ लड़कों को भेजकर वहाँ का काम चलाने लगे; किन्तु इस ढंग से वहाँ का कार्य आगे न बढ़ सका और परिस्थिति इस अवस्था तक पहुँच गयी कि मुझ पर खादी भंडारों की जिम्मेदारी आ पड़ी। अतः रासना का काम बन्द कर दिया गया। मैंने अपना सारा ध्यान बिक्री भण्डारों की व्यवस्था में ही केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार पुनः मुझे गाँव की बातें भूल जानी पड़ीं।

रासना केन्द्र का अन्त

●●●

सेवा का निश्चित कदम

: १८ :

३१-८-'४१

सन् १९३० और १९३२ के आन्दोलन ने आश्रम के बहुत से भाइयों को जेल में भर दिया। इसलिए हम बाहर के लोगों पर अधिक जिम्मेदारी पड़ गयी थी। सन् १९३३-३४ में राजनीतिक वायुमण्डल शिथिल पड़ने के कारण कार्य की प्रगति में शिथिलता आ गयी थी। ठीक इसी समय मुझे विक्री भण्डार और प्रचार-कार्य की जिम्मेदारी मिली। अतः परिस्थिति का सामना करने में २ वर्ष तक काफी परिश्रम करना पड़ा। मेरा स्वास्थ्य आन्दोलन-काल में ही विगड़ चुका था; उक्त परिश्रम वह सहन न कर सका और मैं नितान्त अशक्त हो गया। आश्रम के लोगों ने मुझे सालभर तक विश्राम करने की सलाह दी। इस विश्राम-काल को कहाँ जाकर व्यतीत करूँ, इसी चिन्ता में एक महीना निकल गया। इसी समय खादी और स्वदेशी प्रदर्शनी के लिए मुझे बनारस जाना पड़ा। वहाँ अधिक परिश्रम के कारण मेरा स्वास्थ्य और भी चिन्त्य हो गया।

स्वास्थ्य का दिवाला

अपनी निर्बलता देखकर और विश्राम के लिए अब तक किसी समुचित स्थान का निश्चय न कर सकने के कारण मुझे कुछ निराशा-सी प्रतीत होने लगी। एक दिन एकाएक यह विचार उठा कि क्यों न किसी देहात में चलकर आसन जमाऊँ। वहाँ का वातावरण मेरे विशेष अनुकूल होगा और विश्राम के दिनों में भी गाँववालों की कुछ-न-कुछ सेवा तो कर ही सकूँगा। इस प्रकार यह विश्राम का समय बिलकुल व्यर्थ नहीं जायगा। दादा भी बनारस आये हुए थे; मैंने अपना यह विचार उनके सामने रखा और उन्होंने इसका निर्णय हमारी स्वेच्छा पर छोड़ दिया। मैंने उसी दिन अकबरपुरवालों को गाँव तलाश करने को लिख दिया और

गाँव में विश्राम का निश्चय

यह भी लिख दिया कि गाँव तलाश करते समय इन बातों को ध्यान में रखना होगा :

१. गाँव छोटा हो, साफ हो तथा अच्छे जलवायुवाला हो।

२. उस क्षेत्र में कांग्रेस आदि का काम न हो, जिससे मुझे किसी अन्य प्रकार के कार्यक्रम में न फँसना पड़े।

३. गाँव का मुखिया सभ्य और सहानुभूतिपूर्ण हो।

४. जहाँ तक सम्भव हो, गाँव नदी के किनारे बसा हो।

अकबरपुर के भाइयों ने रणीवाँ गाँव का चुनाव किया। एक सप्ताह पश्चात् जब मैं अकबरपुर गया, तो उन लोगों ने मुझसे कहा कि जिस

रणीवाँ का चुनाव

गाँव का चुनाव किया गया है, उसमें नदी के अतिरिक्त सभी शर्तें पूरी हो जाती हैं। मैं तो गाँव में जाने के लिए उत्सुक था ही, इसलिए तुरन्त अकबरपुर से रणीवाँ के लिए रवाना हो गया। मेरे साथ लालसिंह और कर्ण भी थे।

गुसाईंगंज पहुँचकर मैं एक मन्दिर में रुक गया। रणीवाँ के एक ब्राह्मण ने अपने दो कमरे, जिनसे वह भूसा रखने और घोड़ा बाँधने का काम लेते थे, हमें दे दिये। लालसिंह उन कमरों को कुछ साफ-सुथरा करके वापस लौट आया। तत्पश्चात् हम लोग जाकर रणीवाँ में बैठ गये।

रणीवाँ गुसाईंगंज से ५ मील दक्षिण की ओर है। आने-जाने की सड़क भी ठीक नहीं है। लोग उस क्षेत्र को वज्र देहात कहा करते हैं। सन् १९२३-२४ में मुझे इसी फैजाबाद जिले की टाँडा तहसील के देहात में भ्रमण करने का अवसर मिला था। अगस्त सन् १९२४ में मैंने वहाँ पदयात्रा प्रारम्भ की थी। दस वर्ष के पश्चात् ३१ दिसम्बर सन् १९३४ को उसी जिले के इस गाँव में आकर स्थायी रूप से बस गया। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आकस्मिक बीमारी के कारण बरसों की दबी हुई इच्छा पूरी हो गयी। मनुष्य-जीवन में कभी-कभी शाप भी वरदान का रूप प्राप्त कर लेता है।

● ● ●

ग्राम-प्रवेश का तरीका   : १९ :

३-९-'४१

रणीवाँ में अपने स्थान को निवास योग्य बना लेने में दो-तीन दिन लग गये। रहने के स्थान की दुरुस्ती से निश्चिन्त होने पर श्री कर्णभाई और लालसिंह भाई ने पूछा कि अब क्या कार्यक्रम चले? साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि आप तो अभी कमजोर ही हैं, इसलिए आप बैठे बैठे बताते रहें और हम लोग ग्राम-संगठन का कार्य प्रारम्भ कर दें। पिछले दिनों गाँव में काम करने से मुझे यह अनुभव हो गया था कि गाँव में जाकर तुरन्त ही गाँववालों से कुछ करने के लिए नहीं कहना चाहिए,

व्याख्यानदाताओं के सम्बन्ध में गाँववालों के विचार

क्योंकि गाँव के लोगों को हम लोग जितना बेवकूफ समझते हैं, उससे अधिक वे हमें समझते हैं। जिस समय शहर के पढ़े-लिखे कार्यकर्ता गाँव की किसी सार्वजनिक सभा में भाषण कर उनके अज्ञान एवं उनसे पैदा होनेवाली खराबियों का वर्णन कर और उन्हें दूर करने के उपाय बताकर चले जाते हैं, उस समय अपने घरों को लौटती हुई जनता के साथ होकर उनकी आपसी बातचीत सुनने में बड़ा आनन्द आता है। उनकी बातें इस प्रकार की होती हैं:

एक देहाती—"भैया, खूब लिक्चर दिहिन।"

दूसरा—"ठीक कहत हैं। हमरे सब बड़े फूहर मनई होईं।"

तीसरा—"जभी त हिन्दुस्तान दुख उठावत है।"

इसी बीच में एक कह उठता है—"दुख तो पावत है, मुला यह जौन चश्मा पहिनिके आये रहिन, वे कौनसा काबिल मनई हवैं। दुइ अक्षर अँगरेजी पढ़ि लिहिन, दुनियाभर का उपदेश करे फिरत हैं। हमरे सबका ज्ञान बतावत हैं।"

दूसरा—"हाँ, भइया, जौन बाप दादा कै रिवाज रस्म रहे, तौन

बेकार। इनके सबकै जौन परदेसी विचार तौन भलो। आये हैं स्वदेशी कै प्रचार करे खातिर, मुला दिलवा में सम्मे विलाइतिया भरे बैठे हैं।"

तीसरा—"हमका पढ़े कहत हैं, सफाई राखे कहत हैं। तुहरे अस झोलीभर रुपया रहत, तो हमहूँ सब पढ़ कै और धोबी से कपड़ा धुलवा कै तुहूँ ले बढ़ कै बड़बड़ाइत। यहाँ खाये बिना मरित हैं, ए आय के नकशा काढ़त हैं!"

चौथा कहता है—"वे कहत रहे कि व्याह-शादी में ढेर खरचा जिनि करो। आजा बाजा जौन जात है तौन कुछ बेकार है, ई कुल टीम-टाम नाहीं करे के चाही। भला उनसे पूछौ तो कि तुहरे शादी में तुहरे माई-बाप हँड़िया अस मुँह करके बइठे रहे और तुहरे यहाँ लड़का-लड़की के व्याह-शादी माँ दूल्हा-दुलहिन का लढ़िया में बैठाके हाँक देत हैं क्या?"

हम लोग जब देहात में जाकर देहात के लोगों को सुधरने का उपदेश देते हैं, तो वे लोग हमारी बातों की इसी प्रकार दिल्लगी उड़ाते हैं, क्योंकि वे अपने सदियों से जमे हुए रस्मो-रिवाज के सामने दूसरी बातें ऊँची नहीं मान सकते। इससे उनके प्रच्छन्न आत्माभिमान पर चोट पहुँचती है और उनकी आत्मा विद्रोही बन जाती है।

मैंने टाँडा के देहात में काम करते समय यह भी देखा था कि जिन्हें वे अपना स्वजन समझते हैं, उन्हींकी बात सुनने के लिए तैयार होते हैं। जब दूसरे लोग उनकी गलती बताने आते हैं, तो वे उन्हें बरदाश्त नहीं करते। यह उनका स्वाभिमान ही है कि जितनी वे अपने भाई की डाँट बरदाश्त करेंगे; उतनी पड़ोसी की नहीं करेंगे। जितनी पड़ोसी की सहन करेंगे, उतनी किसी दूसरे बाहरी आदमी की नहीं। इसलिए मैंने अपने साथियों से कहा कि इस समय गाँव में रहना और यहाँ बस जाना ही हमारा कार्यक्रम है, और कुछ नहीं। इस प्रकार हम लोग दिनभर गाँव में रहने का ही कार्यक्रम चलाने लगे। सबेरे उठना, चक्की चलाना, पानी भरना, भोजन बनाना, कपड़ा धोना, अपने स्थान तथा आसपास की जगह को साफ रखना और चर्खा चलाना आदि कामों में हम तन्मय हो

गये। गाँव के लोग हमारे पास आते थे, बैठते थे, बातें करते थे। हम लोग भी उनके घरों में जाते थे और बैठते थे। धीरे-धीरे लोगों ने हमारे विषय में बहुत कुछ जान लिया और आसपास के दो-एक गाँवों से भी लोग हमें देखने आने लगे।

गाँव में घूमते समय कभी-कभी हमारे साथी लालसिंह गाँव के दकियानूसी लोगों से बहस करने लग जाते थे। मैं उन्हें रोकता था और कहता कि ऐसे विवाद से लोग तुमसे विमुख हो जायँगे और तुम कुछ काम नहीं कर सकोगे। वे मेरी बातों से घबरा-से उठते थे और कभी-कभी निराश होकर कहने लगते थे कि यदि गाँव के लोग ऐसे ही अन्धकार में पड़े रहे, तो हमारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ? क्या खाना बनाना, बर्तन माँजना और चक्की चलाना ही हमारा काम है? मैं उन्हें समझाता था कि घबड़ाने की बात नहीं, सब कुछ स्वतः हो जायगा। पहले गाँव के कुटुम्ब में तुम भी शामिल होने का प्रयत्न करो। फिर धीरे-धीरे लोग जब हमारे सम्पर्क में आयँगे, तो अपने-आप ख्यालात बदलने लगेंगे।

हम लोग जिस क्षेत्र में जाकर बैठे थे, वह अयोध्या के समीप ही था; इसलिए वहाँ प्राचीन रूढ़ियों का प्रचलन था। लोग बहुत गौर से देखा करते थे कि हम लोग क्या खाते हैं और किस तरह रहते हैं। मैं बंगाली था, इसलिए लोगों में और भी उत्सुकता थी। हम लोगों के कुर्ता पहनकर भोजन करने के ढंग पर पर्याप्त टीका-टिप्पणी होती थी। हम लोग मिलकर एक साथ भोजन बनाते थे, यह भी उनके लिए एक विषम समस्या थी। खाना खाने के बाद चप्पल पहनकर हाथ धोने जाते थे, इस पर भी लोगों को काफी एतराज रहता था। इस विषय पर हमसे गाँव के लोग खूब वाद-विवाद किया करते थे। हम भी उनका उत्तर देने के लिए विचित्र-विचित्र सिद्धान्त खोज निकालते थे। हमारे आविष्कृत सिद्धान्तों को जब तुम सुनोगी, तो तुम्हें बड़ी हँसी आयेगी। कपड़ा पहनकर खाने के विषय में हम उनसे कहा करते थे कि हमारे देश के प्राचीन ऋषि-

हमारे रहन-सहन की देखरेख

महर्षि कोई बेवकूफ तो थे नहीं, उन्होंने जो रिवाज आपके लिए बनाया है, वह ठीक है। आप लोगों को कपड़ा पहनकर नहीं खाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में सफाई नहीं रह सकती। आप लोग रोज नहाते समय धोती तो धो लेते हैं, किन्तु अन्य कपड़े नहीं धोते। इसीलिए कुरता आदि पहनकर खाना मना कर दिया गया है। किन्तु हम लोगों के लिए

हमारा तर्क

यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि हम लोग नित्य स्नान करते समय अपने सभी इस्तेमाली कपड़े साबुन से साफ कर लिया करते हैं। इस ढंग से बात करने में दो लाभ होते थे। एक तो उनकी प्राचीन प्रणाली का सम्मान बना रहता था और दूसरे यह कि समाज के प्रचलित आचार-व्यवहार केवल आचार के ही लिए नहीं हैं, बल्कि उनके पीछे विचार भी मौजूद हैं और हरएक आचार के साथ विचार का होना अनिवार्य है, इन बातों की धारणा भी उनके मस्तिष्क में धीरे-धीरे उत्पन्न हो जाती थी।

एक साथ मिलकर खाने के विषय में हम उनसे कहते थे कि हम लोग आपसे तो नहीं कहने आते हैं कि आप भी हमारे साथ खाइये। आप अपना धर्म निबाहिये, हम अपना निभायें। हम लोग तो गांधी बाबा की फौज के सिपाही हैं। भला कहीं फौज में भी पचास चूल्हे जलते हैं!

इस प्रकार गाँववालों ने धीरे-धीरे अपनी स्थानीय सामाजिक प्रथा के सर्वथा विरुद्ध हमारी रहन-सहन स्वीकार कर ली और हम उत्तरोत्तर उनके निकटतर होते गये और गाँव के अन्य सभी परिवारों में हमारा भी स्थान होने लगा। स्त्रियाँ भी हमें अपने कुटुम्बी जैसा ही देखने लगीं।

अब हम लोगों ने धीरे-धीरे गाँव में चर्खा चलवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। तीन-चार चर्खे वहाँ पहले से ही चल रहे थे, हम लोगों की कोशिश से चर्खे बढ़ने लगे। चर्खा तो लोग कात लेते थे, किन्तु रूई धुनने

चर्खे का श्रीगणेश

के लिए तैयार नहीं थे। रणीवाँ गाँव ब्राह्मणों का था, अतः उन्हें डर था कि ताँत छूने से धर्म चला जायगा। हम लोग उन्हें बहुत समझाते थे, किन्तु वे किसी तरह राजी नहीं

होते थे। इसी बीच हमने उनके घरों में आटा चालनेवाली चर्मनिर्मित चलनी देखी। अनाज साफ करने का सूप भी ताँत से बँधा हुआ देखा। तब हमने उनसे कहा कि आप लोग खाने-पीने की सारी सामग्री तो चमड़े और ताँत से मिला देते हैं, किन्तु केवल ताँत को हाथ से छूने में एतराज करते हैं। मेरी इस दलील का जवाब गाँव की किसी स्त्री या पुरुष के पास नहीं था। इस तरह धीरे-धीरे उनमें धुनाई का प्रचार हो चला।

रणीवाँ गाँव के मुखिया पं० लालताप्रसाद मिश्र के आग्रह से हम लोग रणीवाँ आये थे। जब लालताप्रसादजी हम लोगों के साथ बैठकर नियमित रूप से चर्खा चलाने लगे, तब हमारा काम बहुत सरल हो गया। उनकी देखादेखी गाँव के अन्य लोग भी चर्खा कातने लगे। प्रारम्भ में गाँववालों की यह धारणा थी कि चर्खे के सूत से धोती और साड़ी नहीं बन सकती है। उनका यह सोचना स्वाभाविक भी था, क्योंकि उस गाँव में जो दो-तीन चर्खे चलते थे, उनमें चार-पाँच नम्बर का ही सूत कतता था और साधारणतया लोग उसे बेच दिया करते थे। हम लोगों ने यहाँ पर वस्त्र-स्वावलम्बन के ही उद्देश्य को दृष्टि में रखकर कार्य प्रारम्भ किया था। पहले-पहल गाँव के सूत से बनी जनानी साड़ी बनकर जब रणीवाँ

गाँव में कते सूत की पहली साड़ी

आयी, तो वहाँ के इतिहास में यह एक नयी बात थी। लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठा होने लगे। पर्दे के कारण जो स्त्रियाँ वहाँ नहीं आ सकती थीं, वे उसे अपने घर मँगाकर देखती थीं। अपने सूत का कपड़ा बनते देखकर लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी और यह हमारे लिए भी चर्खा-प्रचार का एक साधन हो गया। चर्खा सिखाने के क्रम में गाँव की स्त्रियों और बच्चों से हमारी घनिष्ठता बढ़ने लगी। देखते ही देखते चर्खा सिखाने की इतनी माँग आने लगी कि हम लोगों को एक मिनट के लिए भी छुट्टी नहीं मिलती थी।

● ● ●

समग्र सेवा की ओर

: २० :

४-९-'४१

रणीवाँ गाँव फैजाबाद जिले के ठीक मध्य में पड़ता है। गुसाईंगंज स्टेशन से ५ मील दक्षिण बसी हुई ब्राह्मणों की यह छोटी-सी बस्ती देखने में गाँव नहीं जान पड़ती। इसे पुरवा या टोला ही कहा जा सकता है।

रणीवाँ की बस्ती

इसमें ९-१० घर ब्राह्मणों के तथा ३०-३२ घर मजदूर अहीर, बनिया और बढ़ई, कुम्हार वगैरह के कुल मिलाकर पचास घर होंगे। इतर जातियों के लोग ब्राह्मणों के असामी हैं और उन्हींकी सेवा-टहल किया करते हैं। ब्राह्मण लोग भीटी के ताल्लुकेदारों की अधीनता में पोख्तेदार हैं। ये लोग जमीन के मालिक होते हैं, किन्तु लगान ताल्लुकेदारों को देते हैं। इस गाँव के लोगों के पास जमीन बहुत थोड़ी है, जिससे वे किसी तरह अपना निर्वाह कर लेते हैं। इस गाँव के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर नदी है। सड़कों की सुविधा न रहने से बाहर से इसका बहुत कम सम्बन्ध रहता है। जिला बोर्ड और सरकारी कर्मचारी इधर बहुत कम आते हैं। इसलिए इस क्षेत्र को पिछड़ा हुआ इलाका कहा जाता है। प्राचीन रूढ़िवाद का वातावरण यहाँ अधिक देखने में आता था। गाँव में खान-पान के भेद-भाव के अतिरिक्त और कोई आन्दोलन नहीं चलता था। कौन किसका निमंत्रण काटता है, इसी एक बात की चर्चा गाँव की दिलचस्पी का प्रधान विषय थी। कांग्रेस की बातों से इन्हें कोई सम्बन्ध नहीं था। हम लोगों के बारे में भी तरह-तरह की कहानियों का विकास होता था। लोग आपस में कहते थे कि एक बंगाली बाबू आये हैं। कहीं बम आदि बनाने का विचार तो नहीं है? एक बार बच्चों को तमाशा दिखाने के लिए मैं आतशी शीशे से कागज जला रहा था कि गाँवभर की औरतें यह कहती हुई इकट्ठी होने लगीं कि बंगाली

बहुत पिछड़ा गाँव

बाबू जादू से आग लगा देते हैं। इस तरह की विभिन्न कहानियाँ गाँव में फैली हुई थीं।

यद्यपि इस इलाके को कोई नयी बात समझाना बड़ा कठिन काम था, फिर भी मुझे यही जगह पसन्द आयी। मैंने अपने साथियों से पहले ही कह दिया था कि ऐसे गाँव की खोज की जाय, जहाँ किसी प्रकार का सार्वजनिक कार्य न होता हो, अपने स्वास्थ्य को ही दृष्टिबिन्दु में रखकर मैंने ऐसा कहा था, किन्तु दो-तीन माह इस क्षेत्र में रहने के बाद मुझे ऐसा लगा कि इस क्षेत्र के लोगों में अन्य स्थानों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक दिखाई देती है। अशिक्षित, मूर्ख और दकियानूसी खयाल के होते हुए भी ये लोग श्रद्धा और प्रेम में अतुलनीय हैं! इसलिए उत्तरोत्तर मुझमें उत्सुकता उत्पन्न होने लगी कि मैं इसी क्षेत्र में काम करूँ। मैंने उस क्षेत्र में स्वावलम्बन-कार्य के प्रसार के लिए एक योजना बनाकर शंकरलालभाई के पास भेज दी। श्री शंकरलालभाई ने मेरी योजना स्वीकृत कर ली। तदनुसार मैंने मेरठ को पत्र लिखा और वहाँ से स्वीकृति आ गयी। रणीवाँ आने के समय यह निश्चय हुआ था कि करणभाई मुझे रणीवाँ में बैठाकर अकबरपुर वापस चले जायँगे। इसलिए वे कभी अकबरपुर रहते थे और कभी रणीवाँ। किन्तु जब रणीवाँ में आश्रम की ओर से ग्राम-सेवा-कार्य का केन्द्र खोलने का निश्चय हुआ, तो ये भी स्थायी रूप से मेरे साथ रहने लगे।

दकियानूसी दिमाग, पर प्रेम और श्रद्धा से भरा हृदय

इस प्रकार अब रणीवाँ आश्रम की ओर से ग्राम-सुधार का स्थायी केन्द्र बन गया। मैं उसके लिए स्थायी कार्यक्रम सोचने लगा। मैंने तुम्हें लिखा था कि सदियों की गरीबी ने ग्रामीण लोगों को एकदम बेहोशी की हालत में पहुँचा दिया है, इसलिए जब तक हम उनके जीवन में चेतना का संचार नहीं करते, तब तक उनमें कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। जीवन-संचार के लिए यह अनिवार्य है कि हम उनके जीवन के प्रत्येक अंग की

ग्राम-सेवा का आधार-बिन्दु

एक-साथ सेवा करें। हम किसी एक योजना को लेकर सफल नहीं हो सकते। यदि केवल गाँव की स्वच्छता का ही कार्यक्रम लिया जाय, तो हम जीवनभर गलियाँ ही साफ करते रह जायँगे और उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकेंगे। यदि हम केवल चर्खा ही चलवाते रहे, तो ग्रामीण जनता को कुछ थोड़े से पैसे तो अवश्य दिला सकेंगे, किन्तु बापूजी चर्खे के द्वारा ग्रामीण समाज में जो परिवर्तन लाना चाहते हैं, वह नहीं हो सकेगा। गाँव के लोग सूत कातकर हमारे पास लायेंगे और हम उन्हें पैसा दिया करेंगे। इससे तो उनकी ठीक वही स्थिति हो जायगी, जो हमने मध्यप्रदेश के बिलासपुर और गोंदिया में देखी थी, जहाँ के हजारों व्यक्ति बीड़ी बनाकर रोजी कमाते हैं, किन्तु उनमें कोई चेतना नहीं उत्पन्न होती।

सन् १९२९ ई० में बापूजी दौरा करने के क्रम में मेरठ आये हुए थे। एक दिन हमारी शंकाओं के उत्तर देते हुए बापूजी ने कहा था कि "यदि तुम लोगों ने कत्तिनों से सूत लेकर खादी बेच दी, तो तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हें तो प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्यवादिनी बना देना है।" बापूजी की ध्वनि हमारे कानों में अब तक गूँजती रही और इस बात का क्षोभ बना रहा कि हम लोग अब तक उनके इच्छानुसार काम नहीं कर सके। यद्यपि मैंने योजना तो वस्त्र-स्वावलम्बन की ही बनायी थी, फिर भी विचार था कि ग्राम-संगठन के सर्वाङ्गीण कार्यक्रम को कार्यरूप में परिणत करूँगा। हमने देखा है कि लोग देहात में जाकर ग्रामीणों की परेशानियाँ देखकर घबड़ा-से उठते हैं और उस घबराहट में कभी कुछ और कभी कुछ करने लग जाते हैं। इस प्रकार ग्रामीणों की सेवा नहीं हो सकती।

निराशा हमारे गलत दृष्टिकोण का परिणाम

इससे तो हमारी शक्ति और हमारे साधन धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और ग्रामीणों को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुँच पाता और अन्त में काम बन्द कर देना पड़ता है। अन्ततोगत्वा उन्हें कहना पड़ता है कि जब तक हम शासन का पूरा-पूरा अधिकार अपने हाथ में नहीं कर लेते,

तब तक ग्राम संगठन आदि की बात करना पागलपन मात्र है। उनका ऐसा कहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जब हम अपनी भीतरी शक्ति का विश्वास खो बैठते हैं, तो हमारे लिए बाह्यशक्ति पर भरोसा करना अनिवार्य-सा हो जाता है। इसीसे हम प्रारम्भ में प्रधानतः एक ही मुख्य कार्यक्रम लेकर गाँव में जाते हैं। जब तक हम गाँव की सर्वाङ्गीण समस्याओं का अध्ययन कर उनके सुधार कार्यक्रम को उस मुख्य कार्यक्रम से समन्वित नहीं कर देते, तब तक वह मुख्य कार्यक्रम भी निर्जीव-सा ही रहता है। इसीलिए यद्यपि हमने वस्त्र-स्वावलम्बन के ही प्रोग्राम को लेकर रणीवाँ में कार्य करना प्रारम्भ किया था, तथापि हम उस क्षेत्र की प्रत्येक समस्या को समझने की कोशिश करते रहे। प्रारम्भ में जब साथियों ने कार्यक्रम के लिए उत्सुकता प्रकट की, तो मैंने उनसे कहा कि गाँव में गाँववालों की तरह रहना ही कार्यक्रम है, क्योंकि मुझे यह विश्वास हो गया था कि यदि हम गाँव में ग्रामीण बनकर रहने लग जायँगे और वहाँ की समस्याओं के प्रति सजग रहेंगे, तो कार्यक्रम स्वतः हमारे सामने आते जायँगे। जो काम जिस क्रम से हमारे सम्मुख आयगा, उसी क्रम से काम करना उस क्षेत्र के लिए सर्वोत्तम होगा। इसलिए प्रारम्भ में हम उन्हें चर्खा चलाने तथा अपने सूत के बने हुए कपड़े पहनने की शिक्षा देते रहे। उनके साथ उठते-बैठते तथा उनसे विभिन्न प्रकार के वार्तालाप करते समय हम देश की परिस्थिति तथा उसके प्रति गाँववालों के कर्तव्य के सम्बन्ध में भी बातचीत किया करते थे।

इस प्रकार रणीवाँ में रहते-रहते दो-तीन महीने कट गये। ● ● ●

६-९-'४१

मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि प्रारंभ में हमारा ध्येय केवल यही था कि हम ठीक ढंग से रणीवाँ में बस जायँ तथा धीरे-धीरे ग्राम-सेवा के काम में भी आगे बढ़ते रहें। हम लोगों का केवल ग्राम-वास ही गाँववालों को बहुत-सी बातें सिखाता था। हमारे चक्की चलाने, खाना बनाने, मकान की मरम्मत करने, बर्तन माँजने और अपने रहने के स्थान के निकट सफाई करने आदि कामों को लोग बड़े ध्यान से देखा करते थे। लोग यह सोच नहीं सकते थे कि भले घर के व्यक्तियों का, और वह भी पुरुषों का, यह सब काम करना सम्भव है। जब हम लोग सफाई आदि का काम करते थे, तो कभी-कभी गाँव के कुछ लड़के भी शौकिया हमारे साथ हो लेते थे। इस प्रकार उनके मस्तिष्क से इन कामों के प्रति घृणा की भावना धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से हटती जा रही थी। गाँव के मुखिया श्री लालताप्रसादजी बातों ही बातों में एक दिन मुझसे कहने लगे कि "धीरेन्द्रभाई, आप लोगों के आने से हम लोगों की कपड़े की समस्या तो धीरे-धीरे हल हो रही है। एक बात का विशेष लाभ यह दिखाई दे रहा है कि अब हमारे यहाँ के लड़के अपने हाथ से कोई काम करने में बेइज्जती नहीं महसूस करते। सवेरे उठकर दातुन करने के पश्चात् जब तक मैं अपना दरवाजा और आँगन स्वयं अपने हाथ से साफ नहीं कर लेता हूँ, तब तक मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता है।" हमारे घर और दरवाजे की सफाई देखकर और लोग भी अपने दरवाजे की सफाई करने में लग गये।

चेतनाविहीन सफाई व्यर्थ

अब तक हम लोगों ने परिश्रम या गाँव की स्वच्छता का कार्यक्रम नियमपूर्वक कभी गाँववालों के समक्ष नहीं रखा था, क्योंकि इन कार्यक्रमों को नियमतः गाँववालों के सामने रखने पर हमें विश्वास ही नहीं था। वस्त्र-स्वावलम्बन के मूल कार्य के साथ-साथ प्रत्येक कार्यक्रम समय पाकर अनायास ही हमारे समक्ष आता जायगा, हमारा काम केवल उन्हें क्रम देकर उनमें सामञ्जस्य

स्थापित करना ही होगा। मुझे इस प्रकार का विश्वास पहले से ही हो गया था, इसीलिए हम लोग झाड़ू, फावड़ा और टोकरी लेकर गाँव की सफाई करने कभी नहीं निकले। एकाध दिन हमारे साथी श्री लालसिंह-भाई ने इसकी चर्चा भी की और कहा कि महात्माजी तो गाँव की सफाई का ही कार्यक्रम सबसे महत्त्व का बतलाते हैं। किन्तु मैं उन्हें सदा ही मना करता रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं गाँव की गन्दगी को महसूस नहीं करता। सच तो यह है कि मुझे गाँव में रहने पर किसी बात से घबराहट होती है, तो वह गन्दगी से ही। शुरू-शुरू में जब बनारस के धौरहरा गाँव में गया था, तो वहाँ की गन्दगी देखकर मैं व्याकुल हो गया था, किन्तु रणीवाँ में मैं देख रहा था कि अभी गाँव की सफाई का कार्यक्रम हाथ में लेने का समय नहीं आया है। जब तक हम गाँववालों के साथ रहकर गन्दगी के प्रति उनके दिमाग में घृणा नहीं उत्पन्न करेंगे, तब तक केवल गाँव की गली साफ करने का कोई परिणाम नहीं होगा। चेतनाविहीन ग्रामवासी उसके प्रति कोई ध्यान नहीं देंगे।

होली पर सफाई का श्रीगणेश

धीरे-धीरे रणीवाँ में हमारे तीन माह समाप्त हो गये। गाँव के हर आदमी से हम परिचित हो गये; हर परिवार में हमारा स्थान बन गया। गाँववाले हमें जानने लगे थे और हम लोग गाँववालों को जानने लग गये। हमने उनके एक निकटस्थ पड़ोसी का पद प्राप्त कर लिया। जिस प्रकार गाँव के लोग अपने सुख-दुःख की बातें अपने पड़ोसियों से किया करते हैं और अपने मामलों में उनसे सलाह लिया करते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार अब उनके और हमारे बीच होने लगा। इसी बीच होली का त्यौहार आ गया और गाँव-गाँव में लोग होली के रंग से रँगे जाने लगे। होली और फाग से देश का कोना-कोना गुञ्जायमान होने लगा। इस त्यौहार में घरों के भीतर-बाहर अच्छी तरह सफाई करना एक धार्मिक अनुष्ठान है। अमीर और गरीब सभी लोग अपने-अपने घर-द्वार साफ करते हैं, किन्तु अपने वासस्थान का निकटस्थ क्षेत्र एवं गली, झाड़ी कभी साफ नहीं करते। हम लोगों ने

निश्चय किया कि गाँव की सफाई का कार्यक्रम प्रारम्भ करने का यही उपयुक्त अवसर है। अतः हम लोग उन्हें साथ लेकर सफाई के कार्य में जुट गये। हम लोग उन जगहों की सफाई करने लगे, जिन्हें वे कभी साफ नहीं करते थे और गाँव के कूड़े के ढेर (घूर), गली, कूचे और रास्ते की टट्टी, जो कुछ भी गन्दगी दिखाई देती थी, सबकी सफाई प्रारम्भ कर दी। लज्जा और संकोचवश गाँव के कुछ लोग भी हमारे साथ हो लिये। एक बूढ़ी स्त्री, जिन्हें गाँववाले 'अइया' कहकर सम्बोधित करते थे, हम लोगों को गन्दगी साफ करते देखकर रोने लगीं और गाँव के लोगों पर नाराज होने लगीं कि क्यों लोग गाँव में गन्दगी फैलाते हैं। होली के कारण सफाई के प्रति लोगों के हृदय में उत्साह तो था ही, इसलिए हमारे उस दिन के काम और उपर्युक्त घटना का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार हम लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से देहात में परिश्रम और सफाई का कार्यक्रम लेकर प्रवेश पा लिया। तदनन्तर उन लोगों के साथ उठते-बैठते प्रायः हर समय परिश्रम की मर्यादा और सफाई के विषय पर उन्हें कुछ समझाते ही रहते थे। अब हमारे लिए वहाँ तीन कार्यक्रम हो गये। १. चर्खा, २. श्रम-प्रतिष्ठा और ३. स्वच्छता।

गाँव के त्यौहार और अनुष्ठान आदि के उपलक्ष्य में यदि हम सफाई के कार्यक्रम को हाथ में लेते हैं, तो उस परिस्थिति में गाँव के सभी निवासी हमारा साथ देने को तैयार हो जाते हैं और उसका प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। इस प्रकार दिन-ब-दिन मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि स्वच्छता का कार्य इसी ढङ्ग से करना उचित है। प्राचीन काल से त्यौहार, शादी, विवाह आदि शुभ कार्यों में सफाई के अनुष्ठान को बहुत महत्त्व दिया गया है, और ऐसे अनुष्ठान साल में इतने अधिक बार आते हैं कि अगर उन्हीं अवसरों पर गाँव के लोग सुचारु ढंग से गाँव की सफाई कर लिया करें, तो हमारे गाँव पर्याप्त स्वच्छ रहा करेंगे। कभी मिलने पर विस्तार से इस विषय पर बातें करूँगा। नमस्कार।

●●●

घनिष्ठ सम्पर्क का लाभ : २२ :

७-९-'४१

पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि प्रारम्भिक तीन महीनों में हम लोगों ने रणीवाँ के लोगों से पड़ोसी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बीमारी में, कष्ट में हम उनकी खबर लेने लगे, उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे और दवा-दारू में उन्हें सम्मति देने लगे। उनकी शादी और गमी के अवसरों पर हम एक पड़ोसी की तरह भाग लेने लगे। विवाह या श्राद्ध पर जब वे बिरादरी के लोगों को भोज देते, तो हमें भी आमंत्रित करते थे।

पहले-पहल हम लोगों के जाने से निमंत्रित व्यक्तियों में कुछ खलबली मची। हमारा सभी जाति के लोगों के साथ बैठकर खाना, भोजन के समय कुर्ता आदि न उतारना, भोजनोपरान्त जूता और चप्पल आदि पहनकर हाथ-मुँह धोने के लिए जाना आदि सभी बातों पर समालोचना होने लगी, किन्तु हम लोगों ने अपना ढंग कायम रखा। निमंत्रण देनेवालों से हम लोग स्पष्ट कह देते थे कि हमारे खाने-पीने की शैली वही रहेगी, जो आश्रम में रहती है। हमारे जाने से तुम पर कोई आपत्ति आ पड़े, तो हमें न बुलाओ।

आलोचनाओं का अन्त

फिर भी गाँव के लोग हमें अवश्य बुलाते थे। क्योंकि अब उन लोगों ने हमें अपने एक पड़ोसी के रूप में स्वीकार कर लिया था। धीरे-धीरे आलोचनाएँ समाप्त होने लगीं और इस प्रकार के निमन्त्रणों में हमारे बैठने का आसन भी धीरे-धीरे प्रधान पंक्ति के निकट पहुँचता गया और उसे भी लोग बरदाश्त करने लगे। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में लोगों की कट्टरता धीरे-धीरे कम होने लगी और हमारी देखादेखी जो लोग अपने प्रयोग में आने-वाले कपड़े नित्य धो लिया करते थे, वे भी कभी-कभी कपड़े पहनकर भोजन करने लगे। यहाँ तक कि उस गाँव का एक लड़का निमन्त्रणादि में हमीं लोगों के साथ बैठकर खाने लगा। गाँव के लोगों ने उसे भी सहन

कर लिया। अब हम लोग छुआछूत के सम्बन्ध में लोगों से खुलकर वाद-विवाद करने लगे। शनैः शनैः वही जनता, जो पहले कुर्ता पहनकर खाने पर हम लोगों से घृणा करती थी, अब वाद-विवाद करते हुए यह कहने लगी कि "भाई, हम लोग भी जानते हैं कि यह सब ढकोसला है, किन्तु एक तो हमारा इस प्रकार का संस्कार बन गया है, जिसके विरुद्ध आचरण करने को जी नहीं चाहता और दूसरी बात यह है कि कौन आगे चलकर पहले अपनी नाक कटाये।"

मैं लिख चुका हूँ कि हम लोग गाँववालों के पड़ोसी होने के सम्बन्ध से उनके शोक-ताप और बीमारी आदि के समय उनके यहाँ जाया करते थे और जहाँ तक सम्भव होता था, उनकी सेवा करते थे और उन्हें सान्त्वना देते थे। अकबरपुर आने से पहले ही सन् १९२३ ई० में, जब कि मैं बनारस में रहा करता था और गाँवों में कार्य प्रारम्भ करने के विषय में विचार किया करता था, तो श्री रामकृष्ण मिशन के श्री कालिका महाराज की प्रेरणा से होमियोपैथी का अध्ययन करना प्रारम्भ किया था। अकबरपुर रहते समय इसका पर्याप्त अभ्यास भी हो गया था। यद्यपि इधर कई वर्ष से अभ्यास छूट जाने के कारण यह विद्या प्रायः भूल चुकी थी, फिर भी जब गाँव के बच्चों को बीमार होते देखता था, तो होमियोपैथिक दवाएँ और पुस्तकें मँगाने की इच्छा प्रबल होने लगती थी। किन्तु बापूजी गाँवों में दवा देने के प्रतिकूल हैं, इसे मैं उनके कई लेखों में देख चुका था। उनके योजनानुसार गाँव के रोग गाँव की सफाई करके ही दूर किये जाने चाहिए। दवा का उनके यहाँ कोई विधान नहीं है। इसलिए मैंने होमियोपैथी पुस्तकें मँगाने की कल्पना छोड़ दी और हम लोग स्वयं अपने प्रयोग के लिए जो टिंचर आयोडिन, अमृतधारा और त्रिफला आदि दवाइयाँ मँगाकर रखते थे, उन्हींमें से आवश्यकता आ पड़ने पर कुछ उन्हें भी दे दिया करते थे। कभी-कभी तुलसी की पत्ती, बेल का पत्ता, शहद और दूब की जड़ आदि देहाती दवाएँ भी उन्हें बता दिया करते थे।

चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार

किन्तु हमने अनुभव किया कि जब गाँववालों को साधारण रोग की अपेक्षा कठिन रोग हो जाता था, तो हम लोग असहाय-से हो जाते हैं और उनकी कोई मदद नहीं कर पाते हैं।

गाँव में कुछ लोग, जिनमें विशेषतः स्त्रियाँ थीं, बहुत दिनों के रोग-ग्रस्त थे। उन्हें देखकर मैं सोचता था कि यदि हम होमियोपैथिक दवाएँ मँगा लें, तो ऐसे अवसरों पर ग्रामीण जनता की सेवा कर सकेंगे। ज्यों-ज्यों मैं रणीवाँ और उसके आसपास के लोगों को बीमार पड़ते देखता था, त्यों-त्यों मेरी इस विषय की चिन्ता बढ़ती जाती थी। मैंने देखा कि यदि हम गाँव की सफाई करके रोग-निवारण पर भरोसा करते हैं, तो इस प्रकार रोगों के दूरीकरण में एक-दो पुश्त का समय लग जायगा। हम गाँव में कितनी भी सफाई क्यों न कर लें, किन्तु सदियों का बना हुआ संस्कार एक दिन में नहीं दूर हो सकता। यदि दो-चार व्यक्तियों में कुछ सुधार हो भी गया, तो भी सम्पूर्ण गाँव का परिवर्तन तत्काल नहीं हो सकता और यदि गाँव के किसी भी भाग में गन्दगी रह गयी, तो उसका प्रभाव गाँव के सम्पूर्ण व्यक्तियों पर पड़ेगा। गाँव के किसी भी कोने की गन्दगी पर की मक्खी उनके भोजन पर भी बैठ सकती है, जो लोग स्वच्छता का पूरा ध्यान रखते हैं। अतएव जब तक हम सम्पूर्ण गाँव के रहन-सहन में परिवर्तन नहीं करते, तब तक हमारी रोग-निवारण की आशा दुराशा मात्र है और गाँवों का इस प्रकार का आमूल परिवर्तन कितने दिनों में हो सकता है, इसका हिसाब तुम स्वयं लगा सकती हो। मैं सोचने लगा कि क्या औषधि का ज्ञान रखते हुए भी उसका प्रयोग न करने से हमारे पड़ोसी धर्म का यथातथ्य पालन हो सकेगा? ऐसी द्विविधा में पड़कर मैं तत्काल कोई निश्चय न कर सका। किन्तु अन्ततः मैंने लोगों का कष्ट देखकर होमियोपैथिक दवाइयाँ और पुस्तकें मँगा लीं। अब यदि कोई बीमार पड़ता था, तो मैं उसे दवा दे दिया करता था।

जब लोगों ने यह जान लिया कि मैं दवा भी करता हूँ, तो धीरे-धीरे आसपास के सात-आठ गाँवों के लोग बीमार पड़ने पर मुझसे सहायता

लेने लगे। इस प्रकार दवा-वितरण के आधार पर पाँच-छह गाँवों के लोगों से हमारा और परिचय हो गया और हम वहाँ भी चर्खे का प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे सभी गाँवों में कुछ चर्खे चलने लगे और हमारा कार्य-क्षेत्र बढ़ने लगा। हमने देखा कि रोगियों का इलाज करने से चर्खे के प्रचार कार्य में भी सहायता मिलती है। लोग साधा-रणतः हमें बच्चों की बीमारी में बुलाया करते थे। इस प्रकार हम गाँव की स्त्रियों से भी कुछ-कुछ परि-चित होने लगे और वे हमारी बातों की प्रतिष्ठा करने लगीं। मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूँ कि जब अकबरपुर-टाण्डा क्षेत्र में चर्खे का प्रचार करता था, तो मैं पर्दे के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की स्त्रियों से नहीं मिल सकता था इसलिए उनमें चर्खे का प्रचार नहीं हो सका। कुर्मियों की स्त्रियों का हमसे कोई पर्दा नहीं था, इसलिए हम उन्हें चर्खे के लाभ भलीभाँति समझा सके थे। रणीवाँ में बस जाने से और सबके दुख-दर्द में शामिल होने से हम मध्यम श्रेणी की स्त्रियों के भी सीधे सम्पर्क में आने लगे और इस प्रकार उनमें भी चर्खा चलने लगा।

क्षेत्र-विस्तार

तबीयत कुछ सुस्त है। कई दिन से दाँत उखाड़ रहा हूँ। अब तुम्हारी तरह मेरे भी सब दाँत बने हुए हो जायँगे। वहाँ के विषय में लिखना। तुम लोग कैसे हो? नमस्कार।

• • •

वस्त्र-स्वावलम्बन की ओर

: २३ :

८-९-'४१

आज मैं तुम्हें यह बताने की कोशिश करूँगा कि वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्यक्रम से हमें क्या-क्या लाभ हुए।

रणीवाँ के आसपास बुनाई का काम करनेवाले कारीगर नहीं हैं। इसलिए स्वावलम्बन के लिए जो सूत कातता था, उसे हम अकबरपुर से बुनवा लेते थे। किन्तु धीरे-धीरे जब कई गाँवों में चर्खे चलने लगे, तो हमारे सामने बुनाई की कठिन समस्या आ खड़ी हुई। एक तो अकबरपुर से बुनवाकर मँगाने में बड़ा समय लग जाता था, दूसरे बुनाई का काम बहुत दूर होने के कारण लोगों को बुनाई के प्रति कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी और जो कपड़ा बनकर आता था, वह अपने यहाँ के बने हुए कपड़े के रूप में नहीं मालूम होता था। इससे स्वावलम्बन की भावना में कमी पड़ जाती थी।

एक दिन पण्डित लालताप्रसाद और गाँव के कई अन्य व्यक्ति हमसे कहने लगे कि "यदि गाँव में ही बुनाई का प्रबन्ध हो जाय, तो अपना सूत बुनते देखकर हमें जो आनन्द होगा वह आनन्द अकबरपुर से बुनवाकर मँगाने में नहीं होगा। स्त्रियाँ जब अपना सूत अपने सामने बुनते देखेंगी, तो उनका हौसला बढ़ता ही जायगा। तीसरा लाभ यह होगा कि यदि हमारे गाँव के कुछ लड़के बुनाई सीख लेंगे, तो उनकी बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। हम लोग स्वयं पैसे के स्थान पर अनाज देकर सूत बुनवा सकेंगे।" हमने आपस में परामर्श किया। हमें गाँववालों की दलीलें ठीक लगीं। हमने सोचा कि यदि गाँव के लोग कताई और बुनाई, दोनों काम स्वयं कर लें, तो वे स्वावलम्बी हो जायँगे; उन्हें हम पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

अतः हम लोगों ने गाँववालों का प्रस्ताव मानकर बुनाई का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

बुनाई का कार्यक्रम चालू कर देने से और भी कई लाभ हुए। यह क्षेत्र इतना पिछड़ा हुआ था कि यहाँ के लोगों को किसी प्रकार की नयी बात देखने को नहीं मिलती थी। बुनाई का कार्य प्रारम्भ होने से उन्हें एक नयी बात देखने को मिली। इस कार्य की विभिन्न प्रक्रियाओं में लोगों की अभिरुचि होना स्वाभाविक था। माड़ी द्वारा सूत की मँजाई, 'वै' और 'राछ' में सूत भरना, शटल की खट-खट आवाज आदि बातों को बच्चे और स्त्रियाँ तमाशा के रूप में देखती थीं और इस प्रकार उनके दृष्टिकोण एवं उनकी बुद्धि का परोक्ष रूप से विकास होता था। बुनाई के रूप में गाँव के भीतर उद्योग का वातावरण भी उत्पन्न हो गया।

बुनाई का आरम्भ

शुरू में इस काम के लिए अकबरपुर से बुनकर बुला लिया था। बुनकर और बुनाई का सामान आ जाने पर हमारे सामने स्थान की समस्या आ खड़ी हुई। हम लोग जिस घर में रहते थे, वह इतना संकीर्ण था कि उसमें हमीं लोगों के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था, फिर उसमें करघे के लिए स्थान कहाँ से आता? हमने गाँववालों से कहा कि यदि आप लोग हमें कहीं करघे के लिए थोड़ा स्थान दें, तो यह काम प्रारम्भ हो जाय। गाँव के लोगों ने आपस में सलाह करके हमारे निवास के पास एक कोठरी में करघा गाड़ने का स्थान दे दिया। वह घर एक ब्राह्मण का था। इसलिए उसमें बुनाई शुरू करने से हमें और भी लाभ था। आमतौर से लोग बुनाई के काम को बहुत छोटा काम समझते हैं। यह काम केवल जुलाहों और हरिजनों का था, भले घर के लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। तब गाँव के पण्डितजी के घर में करघा गड़ जाना और उसमें एक जुलाहे का बस जाना, इस क्षेत्र के लिए एक विशेष महत्त्व की बात थी। इसलिए जब हमारे साथी श्री करणभाई ने आकर कहा कि हमारे बुनाई काम के लिए तिवारी बाबा के घर में एक कोठरी मिल गयी,

तो हमने कहा—"अच्छा ही हुआ, एक पंथ दो काज सध गये।" करण-भाई ने भी हँसते हुए कहा कि "अब इसके विरोध में कोई भी कुछ कह नहीं सकेगा।" हम लोग प्रारम्भ से ही रूढ़िवाद और दकियानूसी विचारों को शिथिल करने का सहज साधन ढूँढ़ा करते थे। इस घटना से हमें इस

शुभ परिणाम

दिशा में बड़ी सहायता मिली। गाँव के अग्रगण्य तिवारी बाबा के घर में एक मुसलमान बस गया और गाँव की स्त्रियाँ और बच्चे बुनाई की क्रिया देखने के लिए वहाँ आने-जाने लगे। ऐसी स्थिति में मुसलमानों और बुनकरों के प्रति जनता की प्रकृतिगत घृणा की मात्रा स्वभावतः कम होती गयी।

बुनाई का कार्य प्रारम्भ हो जाने से लोगों में अपने सूत का कपड़ा बुनवाने का उत्साह बढ़ता गया, किन्तु हमारा उद्देश्य यही नहीं था कि बाहर से जुलाहा बुलवाकर बुनाई का काम कराया जाय। हमारा उद्देश्य तो यह था कि इस क्षेत्र के बेकार नौजवान इसे सीख लें और स्वयं यह काम करने लग जायँ। किन्तु यह ठहरा ब्राह्मणों का गाँव। घर में जुलाहे को स्थान देकर बुनाई का काम कराना ही इस क्षेत्र के लिए एक बहुत बड़ी क्रान्ति की बात थी; फिर वे स्वयं बुनाई का कार्य करें, यह उनकी मानसिक स्थिति के किसी भी तरह अनुकूल नहीं था। गाँव में कई नौजवान बेकार थे, फिर भी हम उन्हें इस काम के लिए तैयार नहीं कर सके।

पं० लालताप्रसादजी ने कहा कि मैंने तो यह सोचा था कि आप हमारे दो-एक चमारों को बुनाई सिखा देंगे और इसे सीखकर वे गाँव-वालों का सूत बुन दिया करेंगे। हमने उनकी यह बात स्वीकार कर ली और वे लोग सीखने के लिए आने लगे। उनसे हमें मालूम हुआ कि वे लोग सदा नहीं खाली रह सकते, क्योंकि वे खेती के कामों में मजदूरी करते हैं और जब उच्चवर्गीय लोगों को खेती के काम के लिए जरूरत पड़ेगी, तो वे उन्हें बुला लेंगे। होता भी प्रायः ऐसा ही था। इसलिए उनका बुनाई सीखना सम्भव नहीं था। यह सब सोचकर हम लोगों ने उन्हें सिखाने की चेष्टा छोड़ दी।

जिस घर में हमारा निवास था, उस घरवालों की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय थी। कुछ दिन पहले ये लोग अच्छे गृहस्थ थे, किन्तु कर्ज के कारण इनकी जायदाद धीरे-धीरे दूसरों के हाथ में चली गयी। उन्हें दोनों समय भोजन भी नहीं मिल पाता था, फिर मालगुजारी चुकाने की बात तो दूर है। उस परिवार का पूरा भार एक विधवा ब्राह्मणी पर था, जिसके लड़के बिलकुल बेकार बैठे थे। वे बेचारे करते भी क्या? जमीन इतनी थी नहीं कि उसीकी देखभाल करते। दूसरा कोई उद्योग था नहीं। अपने हाथ से हल चलाना या इसी प्रकार के अन्य काम करने में बेइज्जती का सवाल था। स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का भी साधन नहीं था। गृहस्थी की देखरेख इनकी माँ ही कर लेती थी। इसलिए ये लोग दिनभर बेकार रहते थे और भूख से छटपटाते थे। हमारे सहवास से और अपने हाथ से सारा काम करने से इनके हृदय की संकीर्णता बहुत-कुछ कम हो गयी थी। हमने इन्हें समझाया कि बुनाई का काम सीख लो। आखिर हम लोग भी तो इसे करते हैं। इससे हमारी कौन-सी इज्जत चली जाती है? और फिर तुम्हारी इज्जत ही क्या है? गरीब होने के कारण एक तो कोई पूछता नहीं, दूसरे बेकार बैठकर दूसरों की कृपा का अन्न खाने से परिश्रम करके खाना अधिक प्रतिष्ठा की बात है। जिस दिन तुम परिश्रम करके खाने लगोगे और अपनी बिगड़ी हुई स्थिति सुधार लोगे, उस दिन लोग तुम्हें अधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगेंगे।

रात-दिन के सहवास और बार-बार समझाने से उस घर के रामकरण नाम के एक लड़के ने बुनाई का काम प्रारम्भ कर दिया। उसके बुनाई सीखने से चारों ओर उसके विरुद्ध खूब आलोचनाएँ होने लगीं। चौबीसों घण्टे की आलोचना से उसका बड़ा भाई कुछ घबड़ा गया। किन्तु रामकरण अपने निश्चय पर डटा रहा। उसकी माँ ने भी उसका साथ दिया। एक दिन बड़े भाई ने जब अपनी माँ से कहा कि सब लोग कहते हैं, "तुम लोग जुलाहा हो गये", तो उसकी माँ ने हम लोगों की ओर संकेत करते हुए

विधवा ब्राह्मणी का साहस

कहा कि "जब इतने भले घर के ये लड़के जुलाहे हैं, तो हमारे घर के लड़के भी जुलाहे हो जायँ। हमें इसकी चिन्ता नहीं। जब हम लोग खाने विना भूखों मरते हैं, तो खिलाफ कहनेवाले क्या हमारे घर में अनाज भेज देते हैं?" इतने पिछड़े हुए दकियानूसी ब्राह्मण-गाँव की एक गरीब विधवा ब्राह्मणी का इतना कहना बहुत बड़े साहस का काम था। उस दिन से मैं रामकरण की माता के प्रति अधिक श्रद्धा रखने लगा। उनके द्वारा मुझे इस बात की एक झलक मिल गयी कि ग्रामीण स्त्रियाँ कहाँ तक आगे बढ़ सकती हैं।

रामकरण धीरे-धीरे बुनाई सीखते हुए दो रुपया प्रतिमास पैदा करने लगा। उसे देखकर अन्य दो ब्राह्मण बालकों ने बुनाई सीखना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार हम लोग गाँव के रूढ़िवाद का सुधार करने की दिशा में और एक कदम आगे बढ़ गये। कुछ दिन बाद घाघरा पार के एक किसान के घर का रामफेर नामक मिडिल पास लड़का, जो बुनाई भी जानता था, हमारे पास आया और आश्रम-परिवार में सम्मिलित हो गया। उसके आ जाने से हम लोगों ने अकबरपुर के जुलाहे को बिदा कर दिया। रामफेरभाई ही बुनाई का कार्य करने लगे और दूसरों को भी सिखाने लगे। इस प्रकार अब हमारे यहाँ दो विभाग स्थापित हो गये— एक कताई, दूसरा बुनाई।

बुनाई-विभाग के संगठन से हम गाँव की सामाजिक क्रान्ति की दिशा में कहाँ तक आगे बढ़ सकते हैं, यह तुम अनुमान कर सकती हो।

आज यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार। ● ● ●

शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा

: २४ :

१०-९-'४१

देखते ही देखते देहात में चर्खे का काफी प्रचार होने लगा और दिन-ब-दिन चर्खे की माँग अधिक आने लगी। हम लोगों ने चर्खे बनवाने के लिए आसपास के गाँवों में बढ़इयों की तलाश की। किन्तु उस सम्पूर्ण देहात में कोई भी बढ़ई इस योग्यता का नहीं मिला। तब हम लोगों ने चर्खा-संघ, बिहार से कुछ चर्खे मँगवा लिये। फिर भी इस चिन्तन में लगे रहे कि चर्खे की बढ़ती हुई स्थानीय माँग को किस तरह पूरा किया जाय और स्थानीय व्यक्तियों को चर्खा बनाने की शिक्षा किस प्रकार दी जाय। हमारा विचार हुआ कि स्थानीय बढ़इयों को इसकी शिक्षा दें, किन्तु उनकी संख्या इतनी कम थी कि उनके लिए किसानों के हल-फाल और मकान आदि बनाने का ही काम बहुत अधिक था। ऐसी परिस्थिति में उनका किसी अतिरिक्त कार्य में समय देना नितान्त असम्भव था।

इसी समय हम लोग जिस मकान में रहते थे, उसमें मकानवाले को भूसा रखने के लिए कोठरी की आवश्यकता हुई। हमें अपने रहने की कोठरी खाली करनी पड़ी। हमने एक दूसरा घर तलाश किया; उसमें भी पहले बैल बाँधे जाते थे। न तो उसमें कोई खिड़की थी और न दरवाजा ही। हमने अपना सारा काम बन्द करके उस मकान के पुनर्निर्माण का काम शुरू किया। उस घर में आगे की ओर एक छोटा-सा बरामदा था। जब घर बनकर ठीक हो गया, तो हम लोगों ने उस बरामदे को बढ़ाकर और लम्बा कर लिया। अब उसमें खिड़की खोलना और दरवाजा लगाना शेष रह गया। हमने सोचा कि हमें इसे भी अपने ही हाथ से तैयार कर लेना चाहिए। जिसका घर था, उसीके पास लकड़ी मौजूद थी। औजार गाँव के बढ़इयों से प्राप्त हो गया। मुझे बढ़ई का

काम पहले से ही आता था, साथियों को भी आरा से लकड़ी चीरना सिखा दिया। इस तरह हम सब लोग मिलकर दरवाजा और जँगला बनाने लगे। गाँव के लोगों के लिए यह भी एक नयी बात थी और वे लोग हमारा काम देखने आया करते थे।

एक दिन मैं चौखट बना रहा था कि भाई लालसिंह बरहँची नाम के एक नौजवान बढ़ई को लेकर मेरे पास आये। वह मिडिल पास था और उसके हृदय में पहले से ही राष्ट्रीय भावना थी। उसने आश्रम में रहने की इच्छा प्रकट की। फलतः वह दूसरे दिन से आश्रम में रहने लगा। अब हम लोगों की संख्या तीन से पाँच हो गयी। बरहँची बढ़ईगिरी के काम में होशियार था। बुनाई का काम रामफेरभाई ने सँभाल लिया था। बरहँची के आ जाने से हम लोगों ने चर्खा बनाने का काम भी शुरू कर दिया। हम लोग गाँव से पेड़ खरीदकर उसकी लकड़ी चीर-चीरकर बरहँची भाई को दिया करते थे और वह चर्खे बनाता रहता था।

अब इस कार्य के लिए स्थान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। गाँव में किसीके पास ऐसा फालतू स्थान था नहीं। अन्ततः एक अन्य

बढ़ई-विभाग की स्थापना

गाँव मकनपुर के एक ब्राह्मण ने अपने यहाँ दो कोठरी और आँगन हमें इस काम के लिए दे दिया। मकनपुर रणीवाँ से दो-तीन फर्लाङ्ग की दूरी पर था। हम लोगों ने अपना बढ़ई-विभाग वहीं पर स्थापित कर दिया। बरहँची भी सामान की हिफाजत के लिए उसी मकान की एक कोठरी में रहने लगा। बरहँची के वहाँ रहने में एक लाभ और था। वह नित्य संध्या समय गाँव के लोगों को रामायण और अखबार पढ़कर सुनाया करता था। हम लोग भी नित्य प्रातःकाल लकड़ी चीरने के उद्देश्य से वहाँ पहुँच जाया करते थे। धीरे-धीरे उस गाँव के लोगों से हमारा परिचय बढ़ने लगा। हम लोगों को आरा चलाते देखकर उस गाँव के नौजवानों पर अधिक प्रभाव पड़ा और वे हमारे परिश्रम की प्रतिष्ठा करने लगे। यहाँ के

निवासी रणीवाँ के लोगों से भी अधिक गरीब थे। वे शीघ्र ही चर्खा चलाने के लिए तैयार हो गये।

अब हम लोग नियमपूर्वक दो गाँवों में रहने लगे और हमारा कार्य-क्षेत्र दो गाँवों में फैल गया। वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्य में हम लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे। चर्खे बनाना, सूत कातना और कपड़े बुनना, सभी कार्य गाँव में ही सम्पादित होने लगे। चर्खा कातना और कपड़ा बुनना तो हमने गाँववालों को भी सिखाना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु स्थानीय बढ़इयों को चर्खा-निर्माण की कला सिखाने की समस्या बाकी थी। स्वावलंम्बन की दृष्टि से हम लोगों को इस दिशा में कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। यहाँ के बढ़ई प्रधानतः किसानी का काम करते हैं और उनका बढ़ईगिरी का ज्ञान नहीं के बराबर है। इसका कारण क्या है? क्या यहाँ के निवासी किसी भी युग में लकड़ी की अच्छी चीजें प्रयोग में नहीं लाते थे? पर यह बात तो नहीं। आज भी देहात में सुन्दर कारीगरी के सुरुचिपूर्ण चौखट-बाजू, मचिया, पिढ़ई, पलंग आदि मिल जाते हैं। ये सुन्दर वस्तुएँ प्राचीन बढ़इयों के ही हाथ की बनी हुई हैं। फिर उनकी कारीगरी कहाँ चली गयी? अन्वेषण करने पर मुझे दो कारण ज्ञात हुए। एक तो यह कि भीषण गरीबी के कारण अब लोगों में यह शक्ति ही नहीं रह गयी कि वे इस प्रकार की चीजों की कदर कर सकें; दूसरे, अवध की बेगार-प्रथा सालों तक ऐसा भयंकर रूप धारण किये रही कि किसी प्रकार के कारीगर इस क्षेत्र में पनप नहीं सके। अच्छा कारीगर होना भी बेगारी में पकड़े जाने का एक सर्टिफिकेट था! बेगार से बचने के लिए भी लोग अपने गुण प्रकट नहीं करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे उत्तम कारीगरी का लोप हो गया और कई पीढ़ियों के बाद बढ़ई जाति के लोग अपनी कारीगरी छोड़कर किसान बन गये।

बढ़इयों का लोप कैसे हुआ?

हम लोगों पर चर्खा-शिक्षण, गाँव में उसका प्रचार, रूई की लेन-देन और चूल्हा-चक्की आदि निजी कार्यों का भार इतना काफी हो गया था

कि चर्खा बनाने के काम में हम और अधिक मदद नहीं कर सकते थे।

श्रम की मर्यादा

इसलिए यह आवश्यक हो गया कि बरहँची को लकड़ी चीरने और चर्खा बनाने में मदद करने के लिए कुछ और लोगों की भी सहायता प्राप्त हो जाय। अन्य बढ़इयों के न मिलने पर विचार किया कि ब्राह्मणों के बेकार नौजवानों को इस कार्य में लगाया जाय। पर ब्राह्मण के लड़के बढ़ई का काम करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे? अन्त में मैंने इस कार्य के लिए भी उसी परिवार की शरण ली, जिसका एक लड़का बुनाई का काम करना प्रारम्भ कर चुका था। रामकरण के बड़े भाई श्यामधर को आरा चलाकर लकड़ी चीरना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। जब रामकरण ने बुनाई सीखना प्रारम्भ किया था, उस समय जितना विरोध उत्पन्न हुआ था, उतना इस बार नहीं हुआ। फिर भी देहात के लिए इस प्रकार का कार्य क्रांतिकारी था। गाँव के लोगों ने इन कामों के लिए जो सम्मान और प्रोत्साहन प्रकट किया, उसने हमारे कार्यक्रम को आगे ही बढ़ाया। अब वे प्राचीन रूढ़िवादी विचार-धारा छोड़कर हर प्रकार के परिश्रम की मर्यादा समझने लगे। उन्होंने देखा कि उनकी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने उद्योग निकल सकते हैं, तो गाँव की गरीबी और बेकारी के लिए निराशा का कोई स्थान नहीं। रणीवाँ में जब गाँव के कुछ बेकार नौजवान कार्य में लग गये और कुछ घरों में कपड़े के व्यय की बचत होने लगी, तो लोगों में इतना उत्साह पैदा हुआ कि लोग गाँव की सफाई और शिक्षा आदि कार्यों में भी काफी दिलचस्पी लेने लगे। गाँव की स्वच्छता और शिक्षा के सम्बन्ध में हमने और कौन-कौन से प्रयोग किये, यह मैं तुम्हें अगले पत्र में लिखूँगा।

● ● ●

गन्दगी की समस्या

: २८ :

१४-९-'४१

पिछले पत्र में मैंने गाँव की सफाई के विषय में अपने प्रयोग लिखने का वादा किया था। वास्तव में सफाई का प्रश्न ग्राम-सेवक के लिए सबसे जटिल और विकट प्रश्न है। गाँववाले प्रायः ऐसी परिस्थिति में रहते ही हैं कि वे सफाई रखने में असमर्थता अनुभव करते हैं। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जिनमें वे अपने इच्छानुसार सफाई रख सकते हैं; इसके लिए उन्हें किसी प्रकार की विवशता नहीं है, किन्तु मेरा विचार है कि वे उन बातों में भी सफाई रखने से विवश ही हैं। मैंने तुम्हें लिखा था कि ग्राम-सुधार किसी एक कार्यक्रम को लेकर नहीं चल सकता, क्योंकि देहात में जितनी बुराइयाँ मौजूद हैं, एक-दूसरे से कार्य-कारण का सम्बन्ध रखती हैं। देहात के लोग काहिली के कारण गन्दे रहते हैं और इस काहिली का कारण उनकी बेकारी है। इसलिए सफाई की समस्याओं को हल करने के मार्ग में पग-पग पर अड़चनें आ खड़ी होती हैं। गाँव के लोग गलियों में ही पेशाब करते हैं, उन्हींमें कूड़ा-कचड़ा फेंकते हैं। उनके घर और आँगन का पानी घर के पास ही सड़ा करता है। घरों में इतना अँधेरा होता है कि नमी भीतर ही सड़ा करती है। चारपाई, कपड़े, कथरी, दोहर, चादर, तोशक, रजाई, तकिया और सभी प्रयोग में आनेवाली चीजें पसीना, धूल और तेल से सनी रहती हैं। बच्चे से लेकर बूढ़े तक की जबान पर चौबीस घण्टे अश्लीलतापूर्ण गन्दी बातें बनी रहती हैं। इन तमाम गन्दगियों पर विचार करने से हमारे सामने यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि हम सबसे पहले किस गन्दगी को दूर करें।

सब बुराइयों का एक ही स्रोत

टाँडा में रहते समय मैं अधिकतर किसानों और मजदूरों के ही घरों में जाया करता था। वहाँ की कहानी लिखते समय मैंने तुम्हें बताया था

कि गाँव की गलियों और मकानों के आगे-पीछे की गन्दगी से घर के भीतर की गन्दगी मुझे अधिक भयंकर प्रतीत होती थी। रणीवाँ आकर मुझे ब्राह्मणों, क्षत्रियों के घरों को भी भलीभाँति देखने का अवसर मिला। इनके घरों की गन्दगी देखकर मुझे अनुभव हुआ कि उन मजदूरों के घरों की गन्दगी इनकी तुलना में कुछ नहीं थी। उसके पश्चात् मैं ज्यों-ज्यों देहात में काम करता गया, त्यों-त्यों मेरी यह धारणा और भी दृढ़ होती गयी कि गाँव की सफाई के कार्यक्रम में कपड़ों की सफाई पर सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। उच्च श्रेणी के घरों में मुझे कपड़ों की गन्दगी के प्रति और भी भयंकर उदासीनता देखने को मिली।

कपड़ों की सफाई

किसानों और मजदूरों के घरों में भी कपड़े काम में लाये जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या कम होती है। बिछाने के लिए पतली चादर और कथरी के अतिरिक्त और होता ही क्या है ! किन्तु जल्दी से फट जाने के कारण उनके कपड़ों में अधिक गन्दगी नहीं आ पाती। किसान और मजदूर कुरते भी कम पहनते हैं। जो पहनते हैं, वे भी ऐसे मामूली कपड़े के बने होते हैं कि आसानी से धुल सकें। इसके अतिरिक्त ये कुरते केवल घराऊ रूप में ही काम में लाये जाते हैं, इसलिए उन्हें सदा धोकर ही रखा जाता है। किन्तु उच्च श्रेणी के लोग दरी, तोशक और रजाई काम में लाते हैं, जो अधिक टिकाऊ और अधिक भारी होती है। इसलिए इनमें असीम गन्दगी इकट्ठी हो जाती है। कुरते, कोट और बण्डी भी ये लोग काम में लाते हैं, जिससे ये चीजें भी पसीना आदि से सन जाती हैं। मैंने अनुभव किया कि जब तक ये अपने ओढ़ने, बिछाने और पहनने के कपड़े इतने गन्दे रखते हैं, तब तक इन्हें गली-कूचों और बाहरी गन्दगी का अनुभव कराना नितान्त असम्भव है, क्योंकि सफाई तो वे ही लोग रख सकते हैं, जिन्हें गन्दगी से घृणा हो। इसलिए मैं जहाँ भी जाता था, लोगों के कपड़ों पर विशेष ध्यान रखता था और कपड़ों की ही गन्दगी के विषय में उन्हें चेतावनी भी देता था। लोग मेरी इन बातों को महसूस तो करते थे, किन्तु कुछ तो अपने स्वभाव

और कुछ साधन के अभाव के कारण इस पर अधिकतर अमल नहीं कर पाते थे। धीरे-धीरे गाँव के कुछ लोगों को भी साफ रहने का शौक पैदा होने लगा।

इस दिशा में कुछ दिन काम करने के बाद हम यह महसूस करने लगे कि यदि हम किसी तरह साबुन बनाने का काम देहात में जारी कर सकें, तो एक पंथ दो काज होगा। लोगों में सफाई की रुचि बढ़ेगी और हम लोग ग्रामोद्योग की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ सकेंगे। मैंने यह अनुभव किया था कि यदि कोई वस्तु गाँव में ही बनने लग जाय, तो गाँववाले सरलता से उसका व्यवहार कर लेते हैं, किन्तु बाजार की वस्तु मजबूरी की अवस्था में ही खरीदकर लाते हैं। इसलिए हम लोगों ने साबुन बनाने का निश्चय किया और फैजाबाद से थोड़ा-सा कास्टिक सोडा और तेल लाकर कुछ साबुन बनाकर तैयार कर दिया। यह साबुन बनाने का कार्य भी गाँववालों के लिए बिलकुल नया ही था। नितान्त सरलतापूर्वक साबुन तैयार होते देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे। उनकी इस कुतूहल-वृत्ति का लाभ उठाकर हम लोग उन्हें यह समझाने की कोशिश करते थे कि साबुन ही क्यों, यदि वे चाहें तो अपनी जरूरत की सभी चीजें गाँव में ही तैयार कर अपना पैसा बचा सकते हैं। इस प्रकार उनकी धारणा, उनके दृष्टिकोण और उनके आत्म-विश्वास की भावना में उन्नति होती रही। हम लोगों को साबुन बनाते हुए देखकर पण्डित लालताप्रसाद ने भी साबुन बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह उत्तरोत्तर लोगों में साबुन के प्रयोग करने और स्वच्छ रहने की ओर दिलचस्पी बढ़ती रही।

गाँवों में साबुन बनाने की आवश्यकता

कुछ दिनों तक साबुन बनाने का कार्य निर्बाध गति से होता रहा, किन्तु कालान्तर में इसमें एक कठिनाई महसूस होने लगी। फैजाबाद और गुसाईंगंज ऐसे औद्योगिक केन्द्र नहीं थे कि जहाँ से कास्टिक सोडा सर्वदा सरलतापूर्वक प्राप्त होता रहे। पं० लालताप्रसादजी भी प्रायः

यही कहा करते थे कि साबुन बनाने का कोई ऐसा ढंग निकालिये, जिसमें हमें बाजार से कोई सामान मँगाने की आवश्यकता न पड़े। अतएव हम लोगों ने गाँव में प्राप्त होनेवाली रेह से ही साबुन बनाने का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इस विषय में हम लोगों को रंचमात्र भी अनुभव नहीं था, इसलिए हम अपने प्रयोग में सफल न हो सके। आखिरकार रेह का साबुन न बना पाने पर हम लोगों ने साबुन बनाना ही बन्द कर दिया। हमने सोचा कि यदि बाजार से ही सामान खरीदकर साबुन बनाना है, तो बाजार के बने हुए साबुन ही क्यों न खरीद लिये जायँ। हम लोग मेरठ का बना हुआ साबुन ही प्रयोग करने लगे और गाँववाले भी उसीको खरीदकर अपना काम चलाने लगे। मेरी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती गयी कि एक ग्राम-सेवक के लिए गाँव के साधनों से साबुन बनाने का काम हाथ में लेना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा और इसके द्वारा गाँव की स्वच्छता के कार्यक्रम में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

● ● ●

शिक्षा का प्रयोग

: २६ :

१७-९-'४१

हमें रणीवाँ आये कई महीने हो चुके थे। लोगों से काफी घनिष्ठता हो गयी थी। चर्खे का काम दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। हम लोगों के सम्पर्क से गाँव के लोग अपने बहुत-से पुराने संस्कारों और आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में विचार से काम लेने लगे थे। धीरे-धीरे लोगों का मानसिक विकास होता जा रहा था, किन्तु अब तक शिक्षा का कोई विधिवत् कार्यक्रम निश्चित नहीं हो सका था।

गाँव के किसान और मजदूर दिनभर इस तरह काम में फँसे रहते हैं कि दिन में वे स्कूल जा नहीं सकते और यदि रात की व्यवस्था की जाय, तो भी सदियों से पठन-पाठन की ओर दिलचस्पी न होने के कारण स्कूल आने के लिए उन्हें कोई विशेष उत्सुकता नहीं होगी। इसके अतिरिक्त मुझे स्वयं भी इस बात में सन्देह था कि केवल अक्षर-ज्ञान करा देने से इन्हें कोई लाभ हो सकेगा। पर धीरे-धीरे हमें यह महसूस होने लगा कि इस दिशा में कुछ-न-कुछ करना अत्यावश्यक है।

अन्त में हम लोगों ने यह निश्चय किया कि रामायण का पाठ शुरू किया जाय और उसीके द्वारा इन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक शिक्षा दी जाय। मकनपुर के नौजवानों में बहुत उत्साह देखकर हम लोगों ने नित्य संध्या समय मकनपुर में रामायण का पाठ प्रारम्भ कर दिया।

रामायण-पाठ द्वारा शिक्षा

करणभाई और बरहँची मिस्त्री साथ-साथ चौपाइयाँ गाते और करणभाई उनकी व्याख्या करते। वे उसी व्याख्या के ही सिलसिले में प्रत्येक विषय पर कुछ-न-कुछ बताया करते थे। कुछ दिनों के बाद यह प्रतीत होने लगा कि इस प्रकार की शिक्षा गाँव के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है। धीरे-धीरे लोगों की रुचि इधर बढ़ने लगी और पाठ के समय गाँव के

सभी लोग उपस्थित रहने लगे। रामायण-वर्ग में आते-आते लोगों को ऐसे अन्य कामों के लिए भी उपस्थित होने की टेव पड़ने लगी। इसके पहले लोग शाम को घर पर बैठकर तम्बाकू खाते थे और अन्य लोगों पर टीका-टिप्पणी किया करते थे। रामायण का पाठ प्रारम्भ होने पर लोगों की इस प्रकार की एक-दूसरे के विरोध में कही जानेवाली बातें कम हो गयीं तथा रोज एक साथ उठते-बैठते उनमें आपस में प्रेम और सद्भावना का विकास होने लगा। ग्रामीण शिक्षा के कार्यक्रम में गाँववालों में एक-दूसरे के प्रति घनिष्ठता उत्पन्न करना सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इस कार्य के लिए किसी ऐसे ही साधन को अपनाने की आवश्यकता होगी, जिसमें गाँववाले स्वभावतः दिलचस्पी रखते हों और उसके लिए प्रतिदिन एक ही समय किसी निश्चित स्थान पर इकट्ठे हो सकते हों। प्रतिदिन एक साथ एक स्थान पर बैठने से लोग स्वभावतः एक-दूसरे के प्रति प्रेम करने लगेंगे।

●●●

१८-९-'४१

रामायण-पाठ से एक लाभ यह हुआ कि लोग दूसरे कार्यों के लिए भी बुलाये जाने पर उसी आश्रम के कारखाने के आँगन में एकत्र होने लगे। वह स्थान एक प्रकार से गाँव के लोगों का क्लब बन गया। फिर हमारे निर्णयानुसार बरहँची मिस्त्री उन्हें दिन के समय भी अखबार पढ़कर सुनाने लगा। धीरे धीरे हम लोगों ने रामायण का पाठ दैनिक के बजाय साप्ताहिक कर दिया और अन्य दिनों वहीं पर नियमपूर्वक रात्रि-पाठशाला का कार्य होने लगा। मिस्त्री उन्हें पढ़ाने का काम करता था। कभी-कभी हम लोग भी चले जाया करते थे।

सामाजिक भावना का जागरण

यहाँ एक बात और भी उल्लेखनीय है कि यह रात्रि-पाठशाला मैंने स्थानीय लोगों के अनुरोध पर ही प्रारम्भ की थी। इस प्रकार रामायण के द्वारा ग्रामीण शिक्षा के कार्यक्रम के प्रारम्भ करने का प्रयोग बहुत अंशों में सफल रहा। जब तक हम गाँववालों में अभिरुचि और उत्सुकता नहीं उत्पन्न करेंगे, तब तक केवल पाठशाला स्थापित कर देने से वे इधर नहीं आकर्षित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त केवल अक्षर-ज्ञान से ग्राम-शिक्षा का अभिप्राय पूरा नहीं होता। प्रारम्भ में उनके हृदय में संसार की बातें जानने की आकांक्षा उत्पन्न करनी होगी; फिर तो वे स्वयं ही पढ़ने के लिए उत्सुक हो उठेंगे। जिस समय मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया, उस समय रणीवाँ के आसपास के लगभग पचीस गाँवों में प्रौढ़-रात्रि-पाठशाला का कार्य चल रहा था। हम लोगों ने अन्य-अन्य कार्यों के द्वारा गाँववालों की उत्सुकता जगाकर पाठशाला का कार्यक्रम अपने हाथ में लिया था, इसलिए गाँववाले इसमें इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे कि हमें इसकी उपयोगिता समझाने के लिए अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ा। पाठशाला का स्थान, बैठने का सामान और रोशनी आदि सभी

वस्तुओं का प्रबन्ध गाँववाले स्वयं करते थे। पढ़ानेवाले भी गाँवों से ही उपलब्ध हुए थे।

इस प्रकार गाँववालों के मध्य रहकर उनसे बातचीत कर रामायण-पाठ का प्रबन्ध कर और रात्रि-पाठशाला के द्वारा दिन को अखबार सुनाने का नियम बनाकर हम लोग गाँव की सर्वाङ्गीण शिक्षा के कार्यक्रम में अग्रसर होने लगे।

अब तक हम लोग रणीवाँ में भलीभाँति जम गये थे और दो-तीन फर्लाङ्ग के भीतर के गाँवों में हर प्रकार का कार्यक्रम चलाने लगे थे। यों कहने के लिए तो हमारा कार्यक्रम चार गाँवों में फैला हुआ था, पर वे चारों गाँव मिलकर एक ही गाँव के बराबर थे। उन सबकी जन-संख्या पाँच-छह सौ से अधिक नहीं है।

ये चारों गाँव इतने निकट-निकट थे कि हम लोग लगभग नित्य इनमें घूम लेते थे और प्रति दिन सफाई, चर्खा, रोगियों का इलाज तथा राजनैतिक आलोचना आदि कार्य कुछ-न-कुछ अंशों में कर लेते थे। रोगियों की सेवा और इलाज के कार्यक्रम ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे हम लोग कठिन और पुरातन रोगों का भी इलाज करने लगे। स्त्री-रोगों और बाल-रोगों में आशातीत लाभ होने से इन चार के

रोगों की चिकित्सा

अतिरिक्त अन्य गाँवों के लोग भी हमें जानने तथा हमारे कार्यों से दिलचस्पी और सहानुभूति प्रकट करने लगे। हम लोगों ने यह तय कर लिया था कि इस क्षेत्र को छोड़कर किसी अन्य देहात में नहीं जायँगे। इसलिए लोग रोगियों को लेकर स्वयं हमारे पास आ जाया करते थे। जिन्हें आवश्यकता होती थी, उन्हें हम दवा देते थे और उनसे अपने कार्यक्रमों के सम्बन्ध में वार्तालाप किया करते थे। वे हमारे धुनने और कातने की क्रिया देखते थे। हमारी रहन-सहन पर विचार करते थे और गाँववालों से पूछताछ तथा आलोचना-प्रत्यालोचना करते थे। इस प्रकार डेढ़-दो मील की दूरी के लोग हमारे कार्यक्रमों से परिचित हो गये और बीमारी तथा दुःख के समय हमारे पास

आने लगे। दवा देने के लिए अब तक हमने कोई निश्चित क्रम नहीं किया था। हमारे पास दवा रहती थी और कभी किसीके बीमार पड़ने पर उसे किसी भी समय दे दिया करते थे। किन्तु जब दूर-दूर के लोग आने लगे, तो कभी-कभी उन्हें बड़ी परेशानी होने लगी। इसलिए हमने निश्चय किया कि किसी निश्चित स्थान पर, निश्चित समय तक दवा देने का कार्यक्रम रखा जाय। गाँववालों ने पास के ईश्वरपट्टी नाम के गाँव में इस काम के लिए कोठरी की व्यवस्था कर दी। उसमें हम लोगों ने अपने ही हाथ से खिड़की और दरवाजा लगाकर उसे काम के योग्य बनाया। इस गाँव में एक विशेषता यह दिखाई दी कि जब हम लोग उस कोठरी को ठीक कर रहे थे, तो गाँव के नौजवानों ने हमारे काम में सहायता प्रदान की। चार-पाँच दिन तक मैंने अपनी कोठरी एवं उसके आसपास का स्थान स्वयं साफ किया, किन्तु इसके बाद जब मैं वहाँ पहुँचता था, तो कोठरी और आस-पास के स्थानों की सफाई पहले ही हो चुकी रहती थी। धीरे-धीरे ध्यान दिलाने पर लोग अपने-अपने घर तथा उसके आसपास के स्थान साफ रखने लगे।

स्वच्छता की रुचि

रणीवाँ से लगभग एक मील दूर ठाकुर लोगों का चाचीपुर नाम का एक बड़ा-सा गाँव है। पहले जमाने में यह गाँव बहुत समृद्धि-शाली था, किन्तु दुराचार और दुर्नीति के कारण अब यह गाँव नितान्त दरिद्र और बदनाम था। इसी गाँव के ठाकुर माधवसिंह की पुत्रवधू लम्बी अवधि से सन्निपात से ग्रस्त थी तथा उसके जीने की कोई आशा नहीं रह गयी थी। माधवसिंह गाँवभर के लोगों के प्रेमभाजन थे। इसलिए सभी व्यक्ति इस बीमारी से चिन्तित थे। किसीने उन्हें सूचना दी कि रणीवाँ में आश्रम खुला है और वहाँ पर दवा मिलती है। उस गाँव के कई व्यक्ति आश्रम पर आये और चाचीपुर चलकर दवा करने का अनुरोध करने लगे। मैं उस समय आश्रम पर मौजूद नहीं था। यद्यपि हम लोगों

चाचीपुर का पुनर्जीवन

ने किसी दूसरे गाँव में जाकर दवा न देने का नियम बना रखा था, फिर भी रोग की भयंकरता और गाँववालों की आतुरता देखकर करणभाई और निकुञ्जभाई किताब और दवा लेकर उस गाँव में गये और रोग का अध्ययन कर दवा देने लगे। कुछ दिनों बाद वह रोगिणी रोग-मुक्त हो गयी। इस घटना से चाचीपुर के लोग आश्रम के प्रति विशेष आकर्षित हुए और हमारे प्रत्येक कार्य में दिलचस्पी लेने लगे। हमने भी इस गाँव को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया। धीरे-धीरे यह गाँव इतना अधिक सुधर गया और आश्रम का इतना प्रेमी बन गया कि आज तक हमने रणीवाँ के आसपास जो-जो कार्यक्रम प्रारम्भ करने चाहे, उनमें चाचीपुर ही सबका नेता बना। चाचीपुर अपनी कुरीतियों के लिए जिले-भर में बदनाम हो चुका था; आज लोग इसकी सुधरी हुई अवस्था देखकर आश्चर्य करते हैं। मैंने अनुभव किया है कि डाकू, लुटेरा और बदमाश कहे जानेवाले लोगों के दिल पर यदि किसी प्रकार से प्रभाव पड़ जाय, तो वे सुधरकर आदर्शों के प्रति जितने वफादार हो सकते हैं, उतने समाज के भले और अच्छे कहे जानेवाले लोग नहीं हो सकते। ग्राम-सेवकों को इस प्रकार के लोगों से घबड़ाना नहीं चाहिए, प्रत्युत धैर्य के साथ प्रतीक्षा करते हुए इस बात की खोज करनी चाहिए कि उनकी हृदय-तंत्री के किस तार पर उँगली रखें, जिससे उनके जीवन में परिवर्तन की झनकार झंकृत हो उठे।

गर्मी का मौसम चल रहा था। इसी समय हमें ज्ञात हुआ कि पास के कुछ गाँवों में हैजा फैला हुआ है। करणभाई ने मुझे बताया कि स्थिति बहुत भयंकर है; चारों ओर से मृत्यु के समाचार आ रहे हैं। हम लोगों ने निश्चय किया कि इस समय सब कुछ छोड़कर हैजे की दवा और रोगियों की सेवा करना ही हमारा धर्म है। अतएव हम लोगों ने सर्वप्रथम यह पता लगाया कि किन-किन गाँवों में हैजे का प्रकोप है। अभी तक केवल दो ही एक गाँव में बीमारी फैली थी। इससे हम लोगों ने सोचा कि यदि हम इन गाँवों पर अधिकार प्राप्त कर लें, तो बीमारी

के अधिक फैलने की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए दवा आदि लेकर हैजा-ग्रस्त क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गये।

हैजे का प्रकोप और भवानी का भय

रणीवाँ के लोगों को जब यह बात मालूम हुई कि हम लोग हैजे का इलाज करने जा रहे हैं, तो वे हमें रोकने के लिए हमारे पास आकर कहने लगे कि यदि हैजा के रोगी को दवा दी गयी, तो भवानी माई नाराज हो जायँगी, गाँव-भर में किसीको नहीं छोड़ेंगी, सम्पूर्ण देश को खा जायँगी आदि। किन्तु हम लोग उनकी बातों की उपेक्षा कर अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चल पड़े। जब हम गाँव में गये, तो देखा कि चमारों के मुहल्ले में प्रायः प्रत्येक घर में रोगी पड़े हुए हैं और परिवार के लोग करुण और असहाय अवस्था में उनके पास बैठे हुए उनकी मौत की प्रतीक्षा कर रहे हैं। किसी-किसी घर के तो सभी प्राणी रोगाक्रान्त हो गये थे। उनके दरवाजे पर कोई यमदूतों का स्वागत करनेवाला भी नहीं बचा था। चारों ओर श्मशान-शान्ति छाई थी। कोई मरता था, तो उसके लिए लोग रोते भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि रोने से भवानी माई नाराज होकर सबको समाप्त कर देंगी। हम लोग जब किसी बीमार के विषय में पूछते थे, तो वे बहुत धीरे से फुसफुसाकर उत्तर देते थे और हमसे बात करते समय इस प्रकार डरते थे कि कहीं भवानी माई उनकी बातें सुन न लें।

सन् १९२३-२४ में जब मैं टाँडा में रहता था, तो एक बार मुझ पर हैजे का आक्रमण हुआ था; जिसकी कहानी मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। उस समय मुझे अनुभव हुआ था कि यदि हम उन्हें दवा दे जायँगे, तो वे उसका सेवन नहीं करेंगे। इसलिए हम लोग दिनभर घूम-घूमकर स्वयं दवा देते थे। इस तरह इलाज और सेवा करने से चार-पाँच दिन में ही परिस्थिति काबू में आ गयी और हैजा अधिक फैलने नहीं पाया। भवानी माई नाराज होकर न तो हमी लोगों को खा गयीं और न तो उन्होंने गाँव की ही किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाया। यह देखकर रणीवाँवालों

के भवानी माई के विश्वास में कुछ शिथिलता आयी। तब हमने उन्हें यह बताया कि यह संक्रामक रोग है। प्लेग और चेचक आदि बीमारियाँ भी इसी प्रकार की हैं। इनके फैलने का कारण भवानी माई का प्रकोप नहीं है। रहन-सहन की ठीक प्रणाली से गाँववालों की अनभिज्ञता और स्वच्छता के प्रति लापरवाही के कारण ही इनका आगमन होता है। इस प्रकार हम उनमें गाँव की स्वच्छता, रोग के कारण और उनके निवारण के तरीके आदि का प्रचार करने लगे।

धीरे-धीरे हमारा कार्यक्षेत्र कई गाँवों में फैल गया। असाध्य रोगियों को देखने के लिए हम बाहर भी जाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद मुझे अनुभव होने लगा कि यदि हम इसी प्रकार होमियोपैथिक दवाएँ बाँटते रहे, तो गाँववाले सदा हमारा ही भरोसा करेंगे। कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेंगे। यों तो प्राचीन और असाध्य रोगों का इलाज करना हमारा धर्म ही है, किन्तु सामान्य ज्वर, खाँसी, सिर-दर्द, फोड़ा-फुन्सी आदि का इलाज ऐसा सरल होना चाहिए कि गाँववाले उसे स्वयं कर लें। इसलिए यह आवश्यकता है कि गाँववालों को गाँवों में मिलनेवाली वनस्पतियों और बूटियों से रोग-निवारण का तरीका बताया जाय। हमने कुछ पुस्तकें मँगाकर इस प्रकार का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया, पर वे सभी हमारी आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हुईं। सभी पुस्तकों में प्रायः आयुर्वेद के सरल-सरल नुस्खे ही लिखे रहते हैं, किन्तु हमें तो दूब, तुलसी की पत्ती और बेल की पत्ती आदि गाँव में मिलनेवाली वनस्पतियों के इलाज की खोज करनी थी और इस दिशा में मदद देनेवाली मुझे कोई पुस्तक नहीं मिली। मैंने देखा कि गाँव के कुछ लोग और विशेषकर कुछ पुरानी स्त्रियाँ इस प्रकार के टोटकों की जानकारी रखती हैं। हाँ, यह बात सत्य है कि एक ही व्यक्ति अनेक रोगों की ऐसी दवाएँ नहीं जानता; किन्तु यदि कोई ग्राम-सेवक इस प्रकार की दवाओं की खोज करना प्रारम्भ करे और स्थान-स्थान से

गाँवों में नवीन चिकित्सा-क्रम की आवश्यकता

प्राप्त नुस्खों को सावधानी से नोट करके रोगियों पर उनका प्रयोग करके शोध करे, तो कुछ ही दिनों में उसके पास इतनी सामग्री इकट्ठी हो जायगी कि वह अनेक रोगों की चिकित्सा देहाती साधनों से कर सकेगा। मुझे इस बात का विशेष दुःख है कि मैं आज तक इस काम को नहीं कर सका। इस तरह की एक सम्पूर्ण चिकित्सा-प्रणाली बन जाय, तो गाँव-वालों को सिखाना सरल होगा।[१] किन्तु जब तक इस प्रकार की सर्वाङ्गीण खोज करने की सुविधा नहीं मिलती है, तब तक ग्राम-सेवकों को चाहिए कि वे इस दिशा में जहाँ तक प्रयत्न कर सकें, करते रहें। ● ● ●

---

१. पत्र लिखने के बाद मैंने जल, मिट्टी, उपवास आदि बातों का प्रयोग किया। अब मैं मानता हूँ कि प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली के साथ इस वनस्पति-विज्ञान का समन्वय करना होगा। २५-९-'५०

मजदूरी का सवाल

: २८ :

२३-९-'४१

रणीवाँ में दवा आदि कार्य के साथ चर्खे का कार्य दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहा। किन्तु कुछ दिनों के अनुभव से हमें ज्ञात हुआ कि यह जो चर्खे की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है, उसमें लोगों की स्वाभाविक रुचि नहीं है। अधिकतर लोग हमारे व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण संकोच से ही चर्खा चलाते हैं। उनके रंग-ढंग से ऐसा प्रतीत होता था कि वे चर्खा चलाने में कुछ अधिक लाभ नहीं समझते।

कुछ स्त्रियाँ तो हमसे साफ-साफ कहती थीं कि "भैया, इतनी मिहनत करके सूत कातें और बदल-बदलकर रूई लायें। इतनी मिहनत करके कहीं एक धोती बन पाती है। इससे तो अच्छा यही है कि हम बाजार से धोती खरीद लें। लाभ के अनुपात में हमें परिश्रम बहुत अधिक करना पड़ता है।" हम उन्हें यह कहकर समझाने का प्रयत्न करते थे कि जो कुछ लाभ होता है, वह बैठे रहने से तो बहुत अधिक है। किन्तु इससे उन्हें अधिक सन्तुष्टि नहीं होती थी। वे कहती थीं कि तुम कहते हो इसलिए कातती हैं, नहीं तो यह बिल्कुल व्यर्थ काम है। कुछ लोग तो अपने घरों में कताई का कार्य इसलिए जारी रखते थे कि एक तो इससे कुछ थोड़ा-बहुत कपड़ा मिल जाता था, दूसरे चर्खे में व्यस्त रहने के कारण उनके घर की स्त्रियों को आपस में झगड़ा करने का अवसर कम मिलता था। हम अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के प्रभाव से तथा कुछ आर्थिक और नैतिक लाभ बताकर उनसे चर्खा अवश्य चलवा लेते थे, किन्तु गाँव की स्त्रियों के सन्देह ने हमें भी कुछ सन्देह में डाल दिया। अतः मैं चर्खे की वास्तविक आय का पता लगाने में लग गया।

चर्खे का आर्थिक पक्ष

शुरू-शुरू में जब मैं अकबरपुर आया था, तब भी मुझे एक बार सन्देह

हुआ था और मैंने श्री राजाराम भाई से इसकी चर्चा की थी। उन दिनों हम लोगों ने हिसाब लगाकर देखा था कि यदि कोई स्त्री दिनभर बैठी कातती रहे, तो वह चार पैसे मजदूरी प्राप्त कर सकती थी। भारत के किसानों के लिए इतनी आय भी कम न थी, जब कि उनके साल के चार-पाँच माह बिल्कुल बेकारी में बैठे-बैठे कट जाते हैं। उस समय हम लोग मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रियों के घर चर्खा नहीं चलवा सके थे, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति आज से अच्छी थी और इतनी थोड़ी मजदूरी के लिए वे परिश्रम करने को तैयार नहीं थे। कुर्मियों की बात दूसरी थी। उनका तो मिहनत करने का स्वभाव ही होता है। इसलिए उनके लिए बेकार रहने की अपेक्षा चार ही पैसे की आमदनी विशेष महत्त्व रखती है। रणीवाँ के आसपास के मध्यम श्रेणी के लोगों ने चर्खा चलाना स्वीकार किया, इसके दो कारण थे। एक तो हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध का संकोच और दूसरे यह कि आज उनकी स्थिति सन् '२३-'२४ की अपेक्षा अधिक दीनतापूर्ण हो गयी थी।

मैंने चर्खे की आय की परीक्षा की, तो मुझे ज्ञात हुआ कि सन् '२३ में हम लोगों ने मजदूरी का जो हिसाब लगाया था, उसकी तुलना में आज की आमदनी आधे से भी कम हो गयी है। इस स्थिति को देखकर मैं काफी परेशान हुआ। कारण का विचार करने पर मुझे ऐसा लगा कि खादी-संसार में सन् १९३० से ही एक नयी मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। लोगों ने खादी सस्ती करने का जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में चर्खा-संघ के अधिकारी भी सम्मिलित थे। इसलिए खादी कार्यकर्ताओं को खादी सस्ती करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा। सभी वस्तुओं का भाव गिरने के साथ-साथ रूई का भाव तो गिर ही गया था, किन्तु लोग इतनी ही कमी से संतुष्ट नहीं थे। वे तो मिल के साथ मुकाबला करने की असम्भव परिस्थिति का स्वप्न देख रहे थे। इन कोशिशों के कारण कताई की मजदूरी तो कम हो गयी, किन्तु कताई की गति में कोई वृद्धि नहीं हुई। रणीवाँ के आसपास लोगों ने पहले-पहल चर्खा

चलाना प्रारम्भ किया था, इसलिए उनकी गति साधारण गति से भी कम थी। धुनाई की कला सिखाकर हम लोगों ने उनकी गति बढ़ाने का प्रयास किया था, किन्तु आय का ब्योरेवार हिसाब करने पर ज्ञात हुआ कि धुनाई और कताई का छीजन घटा देने से एक कत्तिन की आठ घण्टे की आमदनी तीन पैसे भी नहीं होती थी। अभी हम लोग इस स्थिति पर विचार कर ही रहे थे कि गांधीजी की 'जीवन-मजदूरी' के सिद्धान्त की घोषणा समाचार-पत्र में पढ़ने को मिली। प्रारम्भ में तो हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु साथ ही यह भी विचार आया कि यदि गांधीजी के इस आठ आने के हिसाब से खादी का दाम लगाया जाय, तो खादी बिकेगी ही नहीं। फिर हम उन्हें अधिक मजदूरी देने की अपेक्षा जो दे रहे हैं, वह भी नहीं दे सकेंगे। हम लोग रणीवाँ में इस विषय पर विचार-विनिमय करते रहे। अन्ततः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि आज की मजदूरी की स्थिति में परिवर्तन लाना तो आवश्यक ही है, किन्तु यह आठ आने की योजना भी सम्प्रति अव्यावहारिक है। मैं सोचता था कि यदि कत्तिनों को वर्तमान मजदूरी से दूनी मजदूरी मिलने लग जाय, तो कुछ स्वाभाविक और सुविधाजनक स्थिति उत्पन्न हो जायगी। मुझसे जब इस विषय में सम्मति माँगी गयी, तो मैंने ऐसी ही सम्मति भेज दी थी।

जीवन-वेतन का सिद्धान्त

मैंने अपनी राय तो भेज दी थी, किन्तु मेरे मस्तिष्क में गांधीजी की घोषणा के सम्बन्ध में तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं। यह निश्चित था कि चर्खे की मजदूरी दो आने कर देने से लोगों की चर्खा चलाने की अरुचि दूर हो जाती, और गाँव की स्त्रियाँ चर्खा चलाने के लिए तैयार हो जातीं, पर गांधीजी तो आठ आने मजदूरी करके गाँव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में क्रान्ति करना चाहते थे। इस :तथ्य को मैं भी समझता था कि यदि यह मजदूरी सम्भव हो जाय, तो हम केवल कत्तिनों के ही द्वारा ग्रामीण समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु इतनी मजदूरी सम्भव हो सकेगी, इसकी कल्पना करना कठिन

प्रतीत हो रहा था। इसलिए मैंने अपनी सम्मति दो ही आने के पक्ष में भेजी।

कुछ दिनों के पश्चात् जब सारे खादी कार्यकर्ता गांधीजी की घोषणा के विरोध में सम्मति देने लगे, तो गांधीजी ने प्रत्येक प्रान्त के लोगों को अलग-अलग बुलाकर इस विषय पर विचार-विमर्श करना प्रारम्भ किया। इसी सम्बन्ध में विचित्र भाई और अनिल भाई वर्धा जा रहे थे। उन्होंने मुझे भी वर्धा पहुँचने को लिखा। हम लोग वर्धा पहुँचकर गांधीजी से मिले। हमारे साथ दूसरे प्रान्तों के भी कार्यकर्ता थे। गांधीजी से बहुत देर तक वार्ता होती रही। वे हरएक की शंका का समाधान बड़े विस्तार के साथ करते थे। वहाँ की वार्ता सुनकर मुझमें यह भाव अंकुरित हो उठा कि मजदूरी बढ़ाने का यह कार्य हमें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यदि हम मजदूरी बढ़ा देते हैं, तो हमें संसार के समक्ष महँगी खादी पेश करने के लिए एक बहुत बड़ा नैतिक आधार मिल जायगा। अब तक हम जो खादी बेचते रहे, वह भी विदेशी कपड़े या मिल के कपड़े से महँगी ही थी। इस महँगी खादी को संसार के समक्ष उपस्थित करने का हम लोगों के पास केवल एक यही आधार था कि खादी के द्वारा हम देहात के कुछ गरीब लोगों को बेकार समय में काम देकर कुछ पैसे दिला सकते हैं। वह पैसा कितना है, उसे कहने में भी शर्म मालूम होती थी। 'जीवन-मजदूरी' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से हम न केवल नैतिक दृष्टि से कत्तिनों के प्रति न्याय करते हैं, प्रत्युत देहाती समाज को पुनर्गठित करने के लिए इसे हम अपना बहुत बड़ा साधन बना सकते हैं। इसका प्रभाव स्वराज्य-आन्दोलन पर भी पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में खादी महँगी होने पर भी बिक्री कम हो जाने का बहुत अधिक भय नहीं रहेगा, क्योंकि खादी की बिक्री तो राष्ट्रीय भावना पर ही निर्भर है और राष्ट्रीय भावना हमारे कार्यक्रम की शैली पर ही अवलम्बित है।

एक ग्रामसेवक की दृष्टि से मुझे इसमें एक दूसरा लाभ भी दृष्टिगोचर होता था। मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि भारत के ग्रामीण समाज

का सुधार तभी हो सकता है, जब गाँव की स्त्रियों का सुधार हो जाय और स्त्रियाँ समाज-सेवा का भार अपने हाथ में ले लें। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि हम इस विषय में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक शीघ्र तैयार कर सकते हैं और वे हमारी बातें अधिक आसानी से समझ सकती हैं।

स्त्रियों में कार्य की आवश्यकता

यदि हम कत्तिनों को इतनी पर्याप्त मजदूरी देने की व्यवस्था कर लें, तो हम उनका सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींच सकेंगे और थोड़े ही प्रयत्न से उनमें राष्ट्रीय और समाज-सेवा की भावना उत्पन्न कर सकेंगे। उनमें से अधिकांश हमारे निर्देशानुसार ग्राम-सेविका का कार्य भी कर सकती हैं। सन् १९२९ ई० में जब बापू मेरठ आये थे, तो उन्होंने कहा था—"तुम्हारा कार्य प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्यवादिनी बना देना है।" इस बार वर्धा में जब गांधीजी से जीवन-मजदूरी के विषय में चर्चा हो रही थी, तो मुझे अनुभव हुआ कि इस परिस्थिति में कत्तिनों को स्वराज्यवादिनी बना देने की कल्पना का सफल होना सम्भव हो सकेगा। यह सोचकर मैंने विचित्र भाई से कहा कि अब तक मेरे हृदय में सन्देह था, किन्तु अब मैं समझता हूँ कि जीवन-मजदूरी के सिद्धान्त के अनुसार चलने पर हमारे आन्दोलन का कल्याण होगा। विचित्र भाई ने एक मधुर परिहास करते हुए मेरी राय से असहमति प्रकट की। किन्तु मैंने स्वयं इस विषय पर जितना ही सोचा, उतना ही मेरा विश्वास दृढ़ होता गया और कालान्तर में जब-जब मुझे अवसर मिला, इस दिशा में कुछ-न-कुछ करने की कोशिश की।

वर्धा में इस प्रकार शंका-समाधान करके हम लोग वापस लौट आये। चर्खा-संघ ने आठ आने मजदूरी का सिद्धान्त नहीं स्वीकार किया, किन्तु आज तीन आना तक तो कर ही दिया है। इस तीन आना के ही आधार पर हम लोग कत्तिनों में क्या-क्या कार्य कर चुके हैं, इसके विषय में फिर कभी लिखूँगा।

● ● ●

सेवा-क्षेत्र का विस्तार

: २९ :

९-१०-'४१

हमारे रणीवाँ-जीवन का लगभग एक वर्ष बीत चुका था। इस अवधि में हमारा कार्यक्रम प्रायः ६-७ गाँवों तक फैल गया था और दूर के ग्रामवासियों से भी परिचय हो गया था। हमने अपने कार्य का विवरण श्री शंकरलाल भाई को लिख भेजा। जब बापूजी को यह ज्ञात हुआ कि हम लोग कई गाँवों में कार्य कर रहे हैं, तो उन्होंने श्री शंकरलाल भाई से कहा कि तुम धीरेन्द्र को लिख दो कि वह इस सम्बन्ध में मुझसे बात कर ले। अतएव श्री शंकरलाल भाई के आदेशानुसार सेवाग्राम जाकर बापूजी से मिला तथा तीन-चार दिन तक उनसे बातें करता रहा।

बापूजी का अभिप्राय यह था कि मैं अपने ग्रामसेवा का काम एक ही गाँव तक सीमित रखूँ। किन्तु मेरी विचारधारा इसके प्रतिकूल कई गाँवों का एक क्षेत्र बनाकर कार्य करने की थी। बापूजी कहते थे कि यदि तुम लोग ऐसा करोगे, तो तुम्हारी कार्यकारिणी शक्ति कई गाँवों में विभाजित हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि तुम कहीं भी सफल न हो सकोगे। पर इसके विपरीत मेरा निजी अनुभव यह था कि ग्रामीण लोग किसी प्रकार के नवीन परिवर्तन की एक निश्चित गति रखते हैं। हम अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी उस निश्चित गति में किसी प्रकार की तीव्रता नहीं ला सकते। उन्हें हमारे रहन-सहन, हमारे कार्य करने के ढंग एवं हमारी शिक्षा का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक निश्चित समय की अपेक्षा होगी। चाहे हम वह समय एक ही गाँव के सम्पर्क में बैठे रहकर व्यतीत करें या कई गाँवों के सम्पर्क में आकर, समय एक ही लगेगा। प्रत्येक गाँव में हमारे कार्यक्रम के साथ थोड़े ही व्यक्ति सहानुभूति रखते हैं, शेष लोगों को अपने साथ लाने में समय लगता है। फिर भी कुछ व्यक्ति तो कभी साथ नहीं

बापू से भिन्न अनुभव

आते। इसी प्रकार प्रत्येक गाँव के कुछ व्यक्ति तो स्वभावतः हमसे सहानुभूति रखते हैं और शेष कुछ लोगों को साथ लाने में हमें उसी समय की आवश्यकता होती है, जिसे हम एक गाँव के लोगों को साथ लाने में व्यय करते हैं। इसके अलावा सभी व्यक्ति सभी कार्यक्रमों में सम्मिलित नहीं होते। रुचि-वैभिन्य के कारण कोई एक कार्यक्रम में भाग लेता है, कोई दूसरे में। इस प्रकार यदि हम कई गाँवों का क्षेत्र लेते हैं, तो सम्पूर्ण क्षेत्र मिलाकर हमारे कार्यक्रम के हर पहलू पर बड़ी संख्या में लोग अमल करने लग जाते हैं और हम उनके सहारे अपना कार्य आगे बढ़ा सकते हैं।

कुछ कार्यक्रम तो ऐसे होते हैं कि उन्हें संचालित करने के लिए गाँव में वायुमण्डल तैयार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, हम चाहे कितना ही झाड़ू देते रहें, कितना ही टट्टी साफ करते रहें और हल चलाना आदि कार्य अपने हाथ से करते रहें, परिश्रम की मर्यादा स्थापित करने के लिए हम साक्षात् आदर्श ही क्यों न बन जायँ, किन्तु किसी ठाकुर परिवार के लोग ऐसा कार्य करने का साहस नहीं करेंगे। इच्छा रखते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि इससे उनके समीपवर्ती बिरादरी के लोग उन्हें तुच्छ समझने लगेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मणों के लिए ताँत छूने, पंक्ति-पावन लोगों के चक्की चलाने और छुआछूत दूर करने आदि के विकट प्रश्न सामने आते हैं। लोगों का चाहे कितना ही बौद्धिक विकास हो जाय, किन्तु प्राचीन परम्परागत रूढ़ि को त्याग कर किसी नयी बात को ग्रहण करने का साहस उनमें नहीं आ पाता। गाँव में एकाध ही ऐसे दुस्साहसी व्यक्ति मिलते हैं, जो इन पुरानी बातों को छोड़ने के लिए तैयार होते हैं, किन्तु अकेले होने के कारण उनका साहस ढीला पड़ जाता है। यदि एक पूरे क्षेत्र के कई गाँवों के कई व्यक्ति ऐसे विचार के हो जायँ, तो उन्हें एक-दूसरे से बल मिलता है और उनके आगे बढ़ने से सम्पूर्ण क्षेत्र के वायुमंडल में एक साहस की लहर पैदा हो जाती है। धीरे-धीरे दूसरे लोग भी उनका साथ देने लगते हैं। कई गाँवों का एक क्षेत्र चुनने से एक विशेष लाभ और होता है। प्रत्येक गाँव के कुछ अलग-अलग ढंग होते हैं, इसलिए

कोई कार्यक्रम किसी एक गाँव में चल जाता है, तो कोई किसी दूसरे में चल जाता है। हम लोगों के उस क्षेत्र में भी यही हुआ।

हम लोगों ने सबसे अधिक समय रणीवाँ में रहकर व्यतीत किया, किन्तु चाचीपुर में पहले ही अधिक चर्खा चल गया। चतुरीपट्टी नामक गाँव के सम्पर्क में हम लोग बहुत पीछे आये, किन्तु उस गाँव में सबसे अधिक चर्खे चलने लगे थे, किन्तु आश्रम से सटे हुए गाँव केवाड़ी में आठ साल प्रयत्न करके हम एक भी चर्खा नहीं चलवा सके। छुआछूत के सम्बन्ध में भी यही हुआ। आश्रम से डेढ़ मील दूर के एक गाँव के कई नौजवान आश्रम में सबके साथ खाने-पीने लगे, फिर अन्य गाँव के लोग भी खाने-पीने का साहस करने लगे और अब वहाँ वायुमण्डल अनुकूल हो जाने से इस सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार का विरोध भी नहीं प्रकट किया जाता।

रणीवाँ के निवासियों ने हमारे कहने से एक बार तम्बाकू पीना छोड़ दिया था, किन्तु अन्य स्थानों से उस गाँव में अतिथि आने पर जब उन्हें तम्बाकू नहीं दी गयी, तो सम्पूर्ण बिरादरी में एक हलचल खड़ी हो गयी। बिरादरी की संगति में बैठकर तम्बाकू न पीना एक प्रकार की बेइज्जती करना समझा जाता है। इस प्रकार बहुत से कार्यक्रम ऐसे हैं कि जब तक अनुकूल वातावरण नहीं पैदा होता है, तब तक व्यक्तिगत रूप से वे चल नहीं पाते हैं।

मैं गांधीजी से तीन-चार दिन तक बातें करता रहा, किन्तु हम लोग सहमत नहीं हो सके। अन्त में बापूजी ने कहा—"जाओ, अपने ढंग से काम करो, अन्त में अनुभव तुम्हें मेरी बात का कायल बना देगा।" उन्होंने जेठालाल भाई का भी उदाहरण दिया और कहा—"जेठालाल भी आरम्भ में इसी प्रकार की बातें करता था, मगर अब उसकी राय बदल गयी है।" बापूजी की इन बातों से भी मेरी धारणा परिवर्तित न हो सकी और मैं उन्हें प्रणाम कर और उनका आशीर्वाद लेकर रणीवाँ लौट आया। तब से छह वर्ष बीत गये। मैं इस प्रश्न पर सदा विचार करता रहा, किन्तु इतने समय तक देहात में काम करने पर भी मेरे विचार में कोई परिवर्तन नहीं आया। प्रत्युत अपनी ही धारणा दिन प्रतिदिन और भी दृढ़ होती गयी।

● ● ●

रणीवाँ-आश्रम की स्थापना

: ३० :

१०-१०-'४१

इस सप्ताहारम्भ की बात है। कुछ लोगों ने निश्चय किया कि गांधी-जयन्ती के अवसर पर कताई होनी चाहिए और इस बीच जितना सूत कते, सब गांधीजी को भेंट किया जाय। पहले निश्चय किया गया कि सप्ताहभर में एक लाख छियालीस हजार गज सूत काता जाय, किन्तु जब कातना शुरू किया गया, तो लोगों के दिमाग में कातने की ही बात घुस पड़ी और निश्चय हुआ कि तीन लाख गज सूत कातना चाहिए, किन्तु अन्ततः लोग उसमें इतने तन्मय हो गये कि सप्ताहान्त तक लगभग साढ़े छह लाख गज सूत कतकर तैयार हो गया। जेल की जिन्दगी एक धुन की जिन्दगी होती है।

जेल का जीवन

अब तक मैंने तुम्हें अपने गाँव के काम के अनुभव ही लिखे हैं; आज रणीवाँ-आश्रम के सम्बन्ध में कुछ बातें बताऊँगा। यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि शुरू-शुरू में हम लोग केवल तीन आदमी ही रणीवाँ आये थे। फिर रामफेर भाई और बरहँची मिस्त्री आ गये। कुछ समय बाद मेरठ से प्रेमनारायण भाई ग्राम-सेवा करने के विचार से चले आये। इस तरह हम लोगों की संख्या तीन से छह हो गयी। एक छोटी-सी कोठरी में छह आदमियों का रहना कठिन हो रहा था। इधर कई माह से हम लोग यह महसूस करने लगे थे कि जब रणीवाँ में सदा के लिए निवास करना निश्चित-सा हो गया और अब इस स्थान ने एक आश्रम का रूप धारण कर लिया है, तब हमें गाँव से बाहर कोई उपयुक्त जमीन मिल जाय, तो वहीं कुछ झोपड़ियाँ डाल देनी चाहिए। यों तो गाँववालों ने हमें जो भी स्थान दिये थे, प्रेम और आदर से ही दिये थे, किन्तु हम लोग यह अनुभव करते थे कि वे लोग संकोचवश हमें स्थान देकर स्वयं तंगी का अनुभव करते थे। इसके अतिरिक्त अब आश्रम में ग्राम-सेवा की शिक्षा पाने के लिए तरह-तरह के नवयुवकों का आगमन सम्भव है, उस परिस्थिति में गाँव

आश्रम के लिए जमीन का चुनाव

के भीतर चौबीस घण्टे हिल-मिलकर रहना उचित न होगा। इन सारी बातों का विचार कर हमने गाँववालों के समक्ष अपना प्रस्ताव रखा और उनसे जमीन माँगी। कई स्थान देखे गये और आश्रम-निर्माण की भिन्न-भिन्न योजना बनने लगी। दीवार कच्ची ईंट की रखी जाय या बिल्कुल कच्ची हो और फूस से बनायी जाय या खपरैल से, इन विषयों में विवाद चलने लगा।

इसी प्रकार जमीन के सम्बन्ध में भी नित्य विचार-विनिमय होता था। अन्ततः श्री लालताप्रसादजी मिश्र ने गाँव से दक्षिण खेतों के मध्य लगभग एक बीघा भूमि प्रदान की और जोर दिया कि आप लोग वहीं पर अपनी झोपड़ियाँ बना लें। उस स्थान पर एक कुआँ भी था, इसलिए हम लोगों ने उसी स्थान पर आश्रम बनाने का निश्चय किया।

एक दिन सन्ध्या समय पं० लालताप्रसाद के साथ मैं गाँव के दक्षिण की ओर घूमने निकला। कुछ दूर जाने के बाद हम लोग एक जंगल के समीप आ पहुँचे। वह जंगल एक बहुत बड़े तालाब के चारों ओर फैला हुआ था। तालाब बहुत प्राचीन होने के कारण भठ चुका था। सुन्दर चाँदनी रात थी, इसलिए वह स्थान बहुत आकर्षक लगा। मैं जंगल के मध्य तालाब के खुले मैदान पर बैठ गया और पण्डितजी कुल्ला करने चले गये। मैं बैठे-बैठे सोच रहा था कि यदि इस जंगल का कोई कोना प्राप्त हो जाता, तो आश्रम बनने के लिए बहुत सुन्दर स्थान होता। गाँव से वह कुछ दूर भी था और बन जाने पर देखने में भी एक प्राचीन काल के आश्रम के ही समान होता। साथ ही मुझमें वह कल्पना भी जाग्रत हो उठी, जिसे मैंने अपने कश्मीर-निवास के समय गाँव के सेवा-कार्य के लिए एक केन्द्रीय संस्था बनाकर आसपास के नौजवानों को शिक्षित कर देहात को

वह टीलों का आकर्षण

संगठित करने के रूप में किया था। अपनी उसी कल्पना के अनुसार मैंने मेरठ के निकट रासना में कार्य करना प्रारम्भ किया था, किन्तु अनुभवहीन विद्यार्थियों के द्वारा संचालित किये जाने के कारण वह सफल न हो सकी

थी। अब तो मैं रणीवाँ में सदा के लिए बैठ रहा था, तो क्या फिर एक बार और कोशिश करना उपयुक्त नहीं होगा? मैंने रासना में जितनी बड़ी केन्द्रीय संस्था की कल्पना की थी, उससे भी बड़ी कल्पना उस तालाब के किनारे बैठे-बैठे बना डाली। यह सोचकर वह स्थान मुझे और भी सुन्दर प्रतीत होने लगा कि वहाँ रहकर भविष्य में अनुकूल परिस्थिति मिलने पर हम आगे भी बढ़ सकेंगे।

थोड़ी देर में पं० लालताप्रसादजी कुल्ला करके लौट आये। मैंने उनसे पूछा कि यह जमीन किसकी है? उन्होंने मेरे प्रश्न का अभिप्राय पूछा, तो मैंने अपना उद्देश्य कह सुनाया। पंडितजी हँसकर कहने लगे कि इन जंगली सियारों के बीच कहाँ आकर निवास करेंगे? यहाँ कहीं निकट में पानी भी तो नहीं है। मैंने आपको जो स्थान दिया है, वह आपके लिए बहुत सुन्दर और साफ है। यहाँ तो घर बनाने के लिए भी कोइ स्वच्छ स्थान नहीं है। सब टीला और जंगल है। आप घर बनायेंगे भी, तो कहाँ बनायेंगे? फिर भी मैंने उनसे जमीन के मालिक का नाम बता देने का आग्रह किया। मेरा आग्रह देखकर वे हँस पड़े और कहने लगे—"कोई हर्ज नहीं, यदि जंगल में ही निवास करना है, तो यहीं घर बनाइये। किसीसे पूछना नहीं है। जमीन अपनी ही है।" तब मैं उसी स्थान पर आश्रम-निर्माण का निश्चय करके घर लौट आया और करणभाई से सारी बातें कह सुनायीं। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री करणभाई और पं० लालताप्रसाद पुनः उस स्थान को आश्रम-भवन-निर्माण की दृष्टि से देखने के लिए गये। स्थान करणभाई को भी बहुत पसन्द आया और वे लोग जंगल का एक कोना पसन्द करके लौट आये।

शुभस्य शीघ्रम्। हम लोगों ने उसी समय गाँव से फावड़े और टोकरियाँ इकट्ठी कर लीं और सबेरे से ही उस स्थान पर जुट गये। जंगल की सफाई और टीले को काट-छाँटकर बराबर करने का कार्य प्रारम्भ हो गया। हमारी इस चेष्टा को देखकर गाँव के लोग हँसने लगे। आपस में कहते थे कि भला इतना ऊँचा टीला ये लोग किस तरह काट सकेंगे?

यह तो टिटिहरियों के समुद्र सोखने का साहस करने जैसा है। किन्तु हम लोग उनकी बातों को अनसुनी करके अपने फावड़े और टोकरियाँ लेकर काम पर जुट जाया करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् गाँव के व्यक्ति हमारे काम के प्रति हँसी-मजाक करने के उपरान्त धीरे-धीरे उस टीले पर आने लगे और हमारे कार्य को कौतूहल की दृष्टि से देखने लगे। कुछ लोग थोड़ी देर के लिए हमारे साथ फावड़ा लेकर खोदने भी लगते थे। इस प्रकार जो लोग हमारे कार्य को असम्भव समझते थे, वे ही अब शनैः-शनैः स्वयं सहायता देने लगे। अन्तिम दिनों में तो वहीं लगभग तीस-चालीस फावड़े चलने लगे थे। इस प्रकार प्रायः दो-तीन माह की अवधि में हम लोगों ने उस टीले और जंगल को काटकर समतल बना डाला और आश्रम के मकान के लिए नींव खोद डाली। गाँव के सभी लोगों में उस समय काफी उत्साह था। उस उत्साह और जोश के ही परिणामस्वरूप हम जितना बड़ा घर बनाना चाहते थे, उससे चौगुना और पाँचगुना बड़ा घर बना डाला। मैंने एतराज भी किया, तो लोगों ने कहा कि आप घबड़ाइये मत, सब कुछ हो जायगा। बहुत से लोगों ने बाँस आदि देने का भी वादा किया। इस प्रकार रणीवाँ-निवास की एक वर्ष की अवधि में ही हम लोगों ने स्थायी रूप से आश्रम की नींव डाल दी।

आश्रम-भवन बनाते समय हमें एक बहुत बड़ा अनुभव भी प्राप्त हुआ। ग्रामीण जनता में अपने को भलमनई समझनेवाले लोग भी हमें रोज फावड़ा चलाते हुए देखकर अपने दिल में परिश्रम के प्रति श्रद्धा करने लगे। हम लोगों की यह बात इतनी फैल गयी कि दूर-दूर के लोग भी हमारा काम देखने के लिए आने लगे।

तीन माह तक लगातार टीला काटने का काम करते रहने से आश्रम का काफी प्रचार हो गया और गाँववालों ने थोड़ा-थोड़ा सामान देकर आश्रम के लिए पूरी सामग्री इकट्ठी कर दी। हम लोगों को केवल बढ़ई और लुहारों के ही लिए खर्च करना पड़ा।

आज जब हम आश्रम की उस विशाल इमारत को देखते हैं, तो

ग्रामीण जनता के इस असीम प्रेम की बात सोचकर आश्चर्य करते हैं। हमारे बहुत से नौजवान कहा करते हैं कि गाँव का काम किस प्रकार होगा ? गाँववाले इतने गरीब, मूर्ख और आलसी हैं कि उनसे तो कुछ हो ही नहीं सकता है और हमारे पास कोई साधन नहीं। अतः गाँव में जाकर बैठना बेकार-सा ही है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि शहरी लोगों के शहरी जीवन व्यतीत करने के लिए, ताल्लुकेदारों और महाराजाओं की अट्टालिकाओं को बनाने के लिए तथा शहर के लोगों को मोटर, सिनेमा आदि सामग्री जुटाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे सभी तो उसी ग्रामीण जनता के यहाँ से आते हैं। इसलिए देहात के जन-समूह

श्रद्धा की आवश्यकता

अपने जिन साधनों से ऐसे बड़े-बड़े कार्य कर डालते हैं, यदि वे चाहें तो उन्हीं साधनों से अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी की मरम्मत भी कर सकते हैं। केवल मार्ग बतलाने की आवश्यकता है। यदि हम गाँवों में जाकर श्रद्धापूर्वक उनके सेवा-कार्य में लग जायँ, तो धीरे-धीरे उनको रास्ता बताने में समर्थ हो जायँगे।

अभी तुम्हारा पत्र आया है। सब समाचार मालूम हुआ। मैं खूब मजे में हूँ, सबको नमस्कार। ● ● ●

सरकारी दमन का रूप

: ३१ :

१२-१०-'४१

अपने पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि किस प्रकार गाँववालों की सहायता से रणीवाँ स्थायी आश्रम बन गया।

धीरे-धीरे दूर देहात तक आश्रम की बात फैलने लगी और आश्रम का प्रभाव बढ़ने लगा। पहले की अपेक्षा ग्रामीण लोगों में कुछ-कुछ जीवन-संचार भी होने लगा। तालाब का टीला और जंगल खोदने की दृष्टि से हम लोग और भी प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सरकारी अधिकारियों की दृष्टि भी हम पर पड़ने लगी। चौकीदारों को हमारी गति-विधि नोट करने का आदेश मिल गया। देहात के जो व्यक्ति हम लोगों से अधिक घनिष्ठता रखते थे, उन्हें पुलिस के सिपाही परोक्ष रूप से डराने भी लगे। किन्तु अब तक हम लोगों ने गाँववालों के हृदय में स्थान बना लिया था। इसलिए हमारा कार्य पूर्ववत् चलता रहा। अधिकारी वर्ग ने जब देखा कि देहात के लोग सामान्य रूप से उनकी धमकी में नहीं आते, तो उन्होंने दमन का विशेष तरीका काम में लाना शुरू किया।

आश्रम का बढ़ता प्रभाव

उस वर्ष लखनऊ में कांग्रेस हो रही थी और उसी वर्ष हमें पहले-पहल कांग्रेस में खादी और ग्रामोद्योग-प्रदर्शनी करनी थी। इसलिए मुझे चार-पाँच माह के लिए लखनऊ चला जाना पड़ा। जिले के अधिकारियों ने अच्छा अवसर देखा और एक वर्ष पूर्व स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर किये गये भाषण के उपलक्ष्य में श्री करणभाई पर राजद्रोह की दफा १२४-अ लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। तत्पश्चात् गाँव में दमन-नीति का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। सिपाही और चौकीदार गाँव-गाँव में जाकर गाँववालों को धमकाते थे और कहते थे कि अब क्या देखते हो ? करणभाई तो गिरफ्तार

सरकार द्वारा दमन

कर लिये गये और बंगाली बाबू डर के मारे जान बचाकर कहीं भाग गये। अब जो कोई आश्रम बनाने में किसी तरह की सहायता करेगा, वह बाँध लिया जायगा। गाँव के लोग इन बातों से घबराते तो अवश्य थे, किन्तु आश्रमी भाइयों के साथ उनका सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा। अधिकारियों को इतने पर भी सन्तोष न हुआ। एक दिन थानेदार ने अपने दल-बल के साथ रणीवाँ के पास एक बाग में आकर खीमा गाड़ दिया। वहीं पर लोगों को बुला-बुलाकर खूब धमकाया और कहा कि जो लोग आश्रम बनाने में मदद देंगे, उन्हें देख लूँगा। थानेदार के सबसे अधिक कोपभाजन वे लोग बने, जिन्होंने हमें रहने के लिए या हमारे काम के लिए अपने मकान के हिस्से दिये थे। कुछ लोग डर गये और उन्होंने बड़े संकोच से लालसिंह भाई से घर छोड़ देने का अनुरोध किया। लालसिंह भाई ने उनका घर छोड़कर बाहर मैदान में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। छोटे-छोटे लड़कों में इतना जोश आ गया था कि वे कष्ट सहकर सभी विभागों का कार्य सुचारु रूप से चलाते थे और फिर भी आश्रम-निर्माण के लिए सामान एकत्र करते थे। आश्रम के भाई अपने खुले मैदान के निवास-स्थान से कार्य के लिए किसी दूसरी जगह जाते थे, तो बच्चे बारी-बारी से सामान की रखवाली करते थे।

पुलिस और जिले के अन्य अधिकारी पण्डित लालताप्रसाद पर बहुत अधिक दबाव डालने लगे कि आप अपनी जमीन में आश्रम न बनने दें। तहसील के हाकिम और थानेदार ने उन्हें बुलाकर धमकियाँ भी दीं। प्रारम्भ में पण्डितजी बहुत घबराये। उनके हृदय में प्रेम और भय का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दो-तीन दिन तक वे अहर्निश पड़े रहे। अन्त

दमन की आँधी में अचल रहनेवाले

में प्रेम की ही जीत हुई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि जो कुछ हो, आश्रम तो बनेगा ही। अधिकारियों के हाथ में जो कुछ शक्ति थी, उसके द्वारा उन्होंने पण्डितजी को गिराने की पूरी कोशिश की। गाँव के मुखिया का पद छीन लिया गया। पण्डितजी कई गाँवों की

सरकारी पंचायत के सरपंच भी थे। अधिकारियों ने उन्हें इस पद से भी वंचित कर दिया। परन्तु यह सुनकर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि दो वर्ष तक लगातार परिश्रम करके भी सरकार उस क्षेत्र में दूसरा सरपंच न चुन सकी। निर्वाचक हमेशा पण्डितजी का ही नाम लेते रहे।

गाँव का यही क्षेत्र था, जहाँ सालभर पहले एक पुलिस चौकीदार को देखकर लोग थर-थर काँपते थे। सिपाही देखकर तो गाँव छोड़ भाग जाते थे। जब पहले-पहल हम लोग रणीवाँ आये, तो एक बार उस गाँव में अकबरपुर से तहसीलदार आये हुए थे। उनके भय से कई अच्छे-अच्छे व्यक्तियों ने अपने चर्खे और धुनकियाँ छिपा दी थीं। एक ने तो घबराहट में अपनी धुनकी धान के पयाल में छिपा दी थी। उसी क्षेत्र में केवल एक वर्ष तक रचनात्मक कार्य करने से लोगों में इतना साहस आ गया कि अधिकारी कोशिश करने पर भी एक सरपंच नहीं चुन सके और अन्त में उन्हें उस क्षेत्र की पंचायत ही तोड़ देनी पड़ी। थानेदार ने उन सभी लोगों को बुलाया था, जिनके घरों में हम लोग रहते थे। कुछ लोगों ने तो अपने डर की बात भाई लालसिंह से कहकर अपनी जगहें खाली करवा लीं, किन्तु जिस घर में हम लोग रहते थे, उस घर की विधवा के बड़े लड़के श्यामधर मिश्र ने हम लोगों के लिहाज से कुछ नहीं कहा। जब उसने यह देखा कि पं० लालताप्रसाद ने अपनी भूमि पर आश्रम बनाने का काम नहीं रोका, तो वह भी चुप रहा। किन्तु तीन-चार दिन के पश्चात् पुलिसवालों ने उसे फिर बुलाकर धमकाया, जिससे वह डर गया। उस समय उसकी विधवा माता अपने नैहर में थी। श्यामधर वहीं चला गया और उसे बुला लाया तथा पुलिस के हस्तक्षेप का सारा किस्सा उससे कह सुनाया। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया कि अब इन लोगों से अपना घर खाली करा लेना चाहिए। किन्तु उस गरीब और ग्रामीण विधवा स्त्री ने साहस के साथ जवाब दिया कि चाहे जो हो, मैं इन्हें नहीं निकालूँगी। अगर पुलिस को निकालना हो, तो वह

विधवा का तेज

स्वयं आकर निकाल जाय। हमारे ऊपर जो मुसीबत पड़ेगी, देख लूँगी। जिसे डर लगता हो, वही घर से निकल जाय।

कितने आश्चर्य की बात है कि देहात की एक गरीब विधवा, जिसके घर में हमेशा दोनों समय उचित रूप से भोजन भी नहीं मिलता, जिसके पास जीवित रहने के लिए भी पर्याप्त साधन नहीं है, जिसने अपने जीवनभर में किसी प्रकार का राजनीतिक व्याख्यान भी नहीं सुना, उसके भीतर इतना साहस कहाँ से आ गया! किस शिक्षा, किस आदर्शवाद और किस ऊँची सभ्यता ने उसके हृदय में इतने ऊँचे भाव जाग्रत किये?

अधिकारियों और पुलिस की उपर्युक्त चेष्टा देखकर मुझे जवाहरलालजी की कही हुई एक बात याद आती है। सन् १९३३ ई० में मैंने गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा ग्राम-सेवा-कार्य के लिए संस्थापित कानपुर के देहात के नरवल-आश्रम के सम्बन्ध में जवाहरलालजी को एक पत्र लिखा था। ग्राम-सेवा के कार्य में मुझे प्रारम्भ से ही दिलचस्पी थी। इसलिए मैं विशेष उत्सुक था कि वह आश्रम सुचारु रूप से चल जाय। जवाहरलालजी ने मेरे पत्र का यह उत्तर दिया था—

"प्रिय धीरेन्द्र, तुम्हारा पत्र मिला। विद्यार्थीजी के नाम के साथ जिस भी काम का सम्बन्ध है, उससे दिलचस्पी होना मेरे लिए परम स्वाभाविक बात है। मैं कानपुर जा रहा हूँ और आश्रम के सेक्रेटरी से बातें करूँगा, किन्तु तुमसे मैं एक बात कहे देता हूँ कि देहात में तुम चाहे कोई भी काम करो, किन्तु उसका कुछ वास्तविक प्रभाव जनता पर पड़नेवाला हो, तो अधिकारी तुम्हें वह काम नहीं करने देंगे।"

यही हुआ भी। रणीवाँ में जवाहरलालजी की बात चरितार्थ हो गयी, किन्तु साथ ही यह भी अनुभव हुआ कि यदि हम देहात में रचनात्मक कार्य इस ढंग से करें कि उससे जनता पर दरअसल प्रभाव पड़ सके, तो अधिकारियों के लिए काम का न करने देना भी असम्भव हो जाता है।

● ● ●

खादी-सेवकों की शिक्षा

: ३२ :

१५-१०-'४१

रणीवाँ के हरदेव ब्रह्मचारीजी को तो तुम जानती हो। इधर जब से हम लोग ग्रामोद्योग विद्यालय को व्यवस्थित करने में लगे रहे, तब से गाँव के कार्य का सारा भार उन्हींने उठा लिया था। उनके समान सादा, सेवाभावी और चरित्रवान् सेवक दुर्लभ है। अत्यन्त योग्य और अनुभवी कार्यकर्ता होते हुए भी वे हमेशा अपने को पीछे रखकर ही कार्य करते थे। अभी-अभी मुझे समाचार मिला है कि ब्रह्मचारी तालाब में तैरते हुए डूब गये हैं। इस खबर ने मुझे इन दिनों बेचैन-सा कर दिया है। मेरे लिए तो वे सगे भाई से भी अधिक थे। रणीवाँ के आसपास के तीन-चार सौ गाँवों की गरीब और असहाय जनता को उन पर बड़ा भरोसा था। पुलिस, जमींदार और रोग आदि के प्रकोप में ब्रह्मचारी उनका एकमात्र आधार था। आज वह जनता अनाथ हो गयी। इसकी चिन्ता मुझे रह-रहकर सता रही है। किन्तु विवश हूँ। मनुष्य कर ही क्या सकता है? ईश्वर की लीला अपार है।

दुर्लभ सेवक का निधन

हाँ, तो उस दिन मैं अधिकारियों के दमन की कहानी लिख रहा था। मेरी अनुपस्थिति में करणभाई को गिरफ्तार कर लेने के बाद पुलिस ने गाँववालों पर अपना आतंक फैलाने की कोई भी कोशिश उठा नहीं रखी। इससे एक लाभ भी हुआ। लोगों के साहस और प्रेम की परीक्षा भी हो गयी। हमारे सहकर्मियों की भी परीक्षा हो गयी।

करणभाई का मुकदमा लड़ा गया और सात महीने अभियोग चलाकर भी पुलिस अपनी बात साबित न कर सकी। करणभाई मुकदमे से बरी हो गये। मैं भी लखनऊ से लौट आया। फिर हम लोगों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आश्रम-भवन-निर्माण में ही केन्द्रित कर दी। करणभाई के छूट जाने से देहात में चारों ओर एक नया जोश छा गया और लोग पहले की

करणभाई का छुटकारा

अपेक्षा अधिक मनोयोग से आश्रम बनाने में सहायता करने लगे। जून सन् १९३६ तक आश्रम-भवन पूर्णतया तैयार हो गया।

अब तक हम लोगों ने ग्राम-सेवा का कार्य केवल व्यक्तिगत रूप से ही किया था। किन्तु अब रणीवाँ-केन्द्र ने एक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया था। आश्रम के खादी-विभाग में एक योग्य कार्यकर्ता की समस्या आ खड़ी हुई थी। उत्पत्ति-विभाग के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक था कि कुछ कार्यकर्ताओं को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि वे कताई-धुनाई के ज्ञान के साथ-साथ हमारे खादी-आन्दोलन के उद्देश्य और स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त कर लें। आश्रम के प्रधान कार्यालय ने उत्पत्ति-विभाग के नये कार्यकर्ताओं को कताई-धुनाई सीखने, राष्ट्रीय आन्दोलन का साधारण ज्ञान प्राप्त करने एवं आश्रम-जीवन की भावना ग्रहण करने के लिए तीन महीने तक रणीवाँ में भेजने का निश्चय किया।

खादी-शिक्षण का केन्द्र

गाँव में चर्खे का प्रचार और स्वच्छता आदि का कार्य तो चल ही रहा था, किन्तु इस शिक्षण-केन्द्र के स्थापित हो जाने से मेरी पुरानी कल्पना को साकार रूप प्राप्त होने की कुछ सम्भावना प्रतीत होने लगी। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा की अवधि कुछ अधिक रखना चाहता था, किन्तु आश्रम ने केवल तीन माह की ही अवधि स्वीकार की। इस प्रकार के कार्यकर्ता-शिक्षण का अनुभव मुझे पहले से कुछ नहीं था। अतः यह कार्यक्रम मेरे लिए भी उतना ही सीखने का विषय था, जितना किसी नवागत शिक्षार्थी के लिए। वस्तुतः इससे मैंने सीखा भी बहुत अधिक। इससे मुझे अनुभव हुआ कि कार्यकर्ता-शिक्षण पर अब तक हम लोगों ने जितना ध्यान दिया है, वह बिलकुल नहीं के बराबर है।

मैं नवागत शिक्षार्थियों के शिक्षा-कार्य में लग गया और कुछ दिनों के लिए मैंने इसी कार्य को अपना प्रधान कार्य बना लिया। आश्रम के विविध विभागों के लिए बहुत से कार्यकर्ताओं को कई टुकड़ियों में शिक्षा दी गयी। कुछ कार्यकर्ता तो सन्तोषजनक नहीं निकले, किन्तु साधारणतया

इस थोड़े दिनों की ही ट्रेनिङ्ग से उनकी भावना में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया। कालान्तर में वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ इस शिक्षा का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ा। किन्तु शिक्षा-केन्द्र खोलते समय मेरी कल्पना कुछ और ही थी। मैं चाहता था कि चर्खा-संघ के उत्पत्ति-केन्द्र इस दृष्टिकोण से चलाये जायँ कि गांधीजी के चर्खा और खादी का व्यापक अर्थ साकार रूप से दृष्टिगोचर हो सके। मेरी वह कल्पना कल्पना ही रह गयी। एक तो तीन माह के संक्षिप्त समय में कार्यकर्ताओं को पर्याप्त शिक्षा देना सम्भव नहीं था। दूसरे उत्पत्ति-केन्द्रों को नये दृष्टिकोण से चलाने का कार्यक्रम आश्रम स्वीकार न कर सका। सम्पूर्ण कार्य पुराने ही ढर्रे से चलता रहा। मैं जितना ही विचार करता हूँ, उतनी ही यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि चर्खा-संघ नवीन दृष्टिकोण से अपने कार्यकर्ताओं की शिक्षा का प्रबन्ध करे। ज्यों-ज्यों कार्यकर्ता तैयार होते जायँ, त्यों-त्यों उत्पत्ति-केन्द्रों का कार्य इस ढंग से संचालित किया जाय कि हरएक कातनेवाली कम-से-कम अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनने के लिए उत्सुक हो उठे। आज जो वे यत्किंचित् खादी पहनती भी हैं, वह एक प्रकार के दबाव से ही पहनती हैं। मेरा विचार है कि वस्त्र-स्वावलम्बन की योजना अलग से न बनाकर कताई-केन्द्रों को ही स्वावलम्बी कर दिया जाय। तभी हम वस्त्र-स्वावलम्बन की दिशा में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

उत्पत्ति-केन्द्रों को नये ढंग पर चलाने की आवश्यकता

● ● ●

किसानों का झगड़ा

: ३३ :

१७-१०-'४१

परसों के पत्र में मैंने इस बात का जिक्र किया था कि किस परिस्थिति में रणीवाँ ने खादी-कार्यकर्ता-शिक्षण केन्द्र का रूप धारण किया था। मेरी यथार्थ कल्पना तो यह थी कि देहात में चर्खा और ग्रामोद्योग का वायु-मण्डल पैदा करके गाँववालों की आर्थिक दशा सुधारी जाय, किन्तु परिस्थिति हमें खादी-कार्यकर्ता-शिक्षण की ओर ले गयी। मैंने यह सोच-कर कि यह रूप भी हमारी योजना का सहायक ही होगा, इसका स्वागत किया। इन विद्यार्थियों के आ जाने से आश्रम ने एक विद्यालय का रूप धारण कर लिया। इससे गाँव के लोगों को भी हमारे स्थायित्व का विश्वास होने लगा और कुछ स्थानीय नौजवान भी बुनाई और लकड़ी का काम सीखने के लिए हमारे यहाँ विद्यालय में भरती हो गये। तब से अब तक कार्यकर्ता-शिक्षण के साथ-साथ ग्रामीण नौजवानों को उद्योग का काम सिखाकर उनके घरों पर ही ग्रामोद्योग का काम संचालित करने का क्रम चल रहा है। हम लोगों ने ग्राम-सेवा के साथ-साथ केन्द्रीय आश्रम का संगठन करने में ध्यान लगाया। आश्रम में पर्याप्त विद्यार्थियों के आ जाने से आश्रम के भीतर भी सामूहिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला। गाँव के लोग इससे भी बहुत प्रभावित हुए। धीरे-धीरे वे अपने घरों की स्वच्छता आदि कार्यों में स्वयं दिलचस्पी लेने लगे।

इसी समय प्रान्तीय असेम्बली के चुनाव की लहर देशभर में फैल गयी। इस कार्य में आश्रम को अपनी पूरी शक्ति से सहयोग देना पड़ा। गाँवों में उस समय कोई दूसरा कार्य हो भी नहीं सकता था, क्योंकि सारी

कौंसिलों का चुनाव

जनता का ध्यान उस समय चुनाव पर ही केन्द्रित हो रहा था। इसके अतिरिक्त यह चुनाव कांग्रेस के लिए बहुत महत्त्व का विषय था। इसलिए तीन माह तक हमारी सम्पूर्ण शक्ति इसीमें लगी रह गयी। इस चुनाव के कार्य से

भी हम लोगों का लाभ ही हुआ। रात-दिन गाँव-गाँव घूमना, जहाँ संध्या हुई, वहीं रह जाना और जो मिला, वही खा लेना आदि बातों से हमारे कार्यकर्ताओं ने पर्याप्त साहस का पाठ पढ़ा। प्रत्येक श्रेणी के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण हमने गाँवों की स्थिति का भी भलीभाँति अध्ययन कर लिया। यह अध्ययन कालान्तर में ग्राम-सेवा-कार्य के लिए हमारा बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

चुनाव के पश्चात् हमारे सामने एक अन्य समस्या आ खड़ी हुई। अब तक हम गाँव में चर्खा-शिक्षण, सफाई, रोगी की सेवा और छुआछूत-निवारण का कार्य करते रहे। चुनाव में कांग्रेस की जीत होने के कारण देहात की परिस्थिति एकाएक बदल गयी। युक्तप्रान्त में कांग्रेस के विरोध में केवल जमींदार और ताल्लुकेदार पार्टी के ही लोग खड़े हुए थे। इन ताल्लुकेदारों और जमींदारों का इस प्रान्त के अवध के जिलों में किस प्रकार एकच्छत्र अधिकार है, यह तो तुम्हें विदित ही है। उनके विरुद्ध आवाज उठाना तो बहुत बड़ी बात थी, सीधे आँख उठाकर ताकना भी देहात के लोगों के लिए असम्भव था। धन, सम्पत्ति, सरकारी कानून

जमींदार-किसान संघर्ष की वृद्धि

और अधिकारी, सभी इनके हाथ में थे। कोई व्यक्ति यदि इनके बीच में आने का साहस करता, तो कुचल दिया जाता था। ऐसी दशा में जब उन्हींकी भूमि में रहनेवाले अवध के किसानों ने उन्हींके विरुद्ध वोट दिया, तो वे क्रोध से पागल हो उठे और किसानों की इस धृष्टता का बदला लेने की कोशिश में लग गये। उनके सिपाहियों द्वारा किसानों का निरपराध ही पीटा जाना, जबर्दस्ती खेत दखल कर लेना, खड़ी फसल कटवा लेना नित्य की साधारण बातें हो गयीं। ऐसी स्थिति में आसपास की असहाय और गरीब जनता इन कष्टों से पीड़ित होकर सहायता के लिए स्वभावतः हमारे पास आने लगी। दिनभर में इस तरह के दो-तीन मामले तो आ ही जाते थे। इस प्रकार चुनाव के कई माह बाद तक भी किसानों के अत्याचार-निवारण में उनका साथ देना ही हमारा मुख्य काम हो गया था।

जब हमारे पास कोई शिकायत आती थी, तो पहले हम उसे अपने रजिस्टर में नोट करते थे। इसके बाद घटना-स्थल पर पहुँचते थे। मार-पीट की बात होती, तो स्थानीय पुलिस की भी सहायता लेते थे, किन्तु अधिकांश मामले जमींदार से मिलकर तय करने की कोशिश करते थे। कभी-कभी गाँव के सम्पूर्ण किसानों को संघटित करके क्षणिक सत्याग्रह का भी विधान करना पड़ता था। देहाती झगड़ों के फैसला करने के क्रम में हमें काफी अनुभव भी हुआ और गाँव की जमींदारी-प्रथा किस प्रकार की है, किसान कितने प्रकार के होते हैं, उनके कौन-कौन से कानूनी हक हैं, उनकी आर्थिक स्थिति किस प्रकार की है, खेती में काम करनेवाले मजदूरों की क्या दशा है, गाँव की मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे जमींदार किस तरह रहते हैं और उनकी मनोवृत्ति कैसी है आदि बहुत-सी बातों का गहरा अध्ययन करने का अवसर मिला।

जब से हमने देहाती झगड़ों का फैसला करने का कार्य अपने हाथ में लिया, तब से जमींदारों के अत्याचार-सम्बन्धी झगड़ों के अतिरिक्त किसानों के आपसी झगड़े भी हमारे पास आने लगे। इन झगड़ों को भी अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। कोई किसीका रुपया नहीं लौटा रहा है, किसीने जमीन के बँटवारे में बेईमानी कर ली है, किसीने अपने पट्टीदार का पेड़ काट लिया है, किसी विधवा के जेवर उसके देवर ने छीन लिये हैं और लौटाता नहीं है, कोई आकर कहता था कि हमारी स्त्री ही भाग गयी, आती नहीं है। ऐसी अनेक उलझनों से भरी हुई समस्याएँ सामने आती रहती थीं। इन असंख्य पुकारों का फैसला करने में हमें बहुत परेशानी उठानी पड़ती थी। सैकड़ों अभियोग तो झूठे ही आया करते थे। सत्य का पता लगाने में भी कम परेशानी नहीं होती थी।

ग्रामवासियों की विविध समस्याएँ

तुम्हें उन समस्याओं को जानने का कुतूहल होता होगा। किन्तु इस पत्र में और अधिक कितना लिखूँ?

● ● ●

ताल्लुकेदारों का अत्याचार

१८-१०-'४१

जब मैं भारत की ग्रामीण पंचायती-प्रथा का वर्णन पढ़ता हूँ और उस समाज से वर्तमान जमींदारी-प्रथा के समाज की तुलना करता हूँ, तो व्यग्र हो उठता हूँ। उन दिनों समाज में साम्यवादी व्यवस्था कायम थी; ड्यूटी बँटी थी; श्रेणी-भेद का निर्माण कर्मभेद की ही दृष्टि से हुआ था; शोषण की दृष्टि से नहीं। कालान्तर में जमींदारी-प्रथा आ गयी। यह प्रथा चाहे जब प्रारम्भ हुई हो, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि यह बहुत बाद की चीज है और सम्भवतः विदेशी शासन के बाद ही इस जमींदारी और जागीरदारी का जन्म हुआ है। प्रारम्भ में जब यह स्थापित हुई, तो शताब्दियों के परम्परागत साम्यवादी संस्कार के कारण जमींदार और किसानों के बीच आपस में प्रेम और सहकारिता का सम्बन्ध रहा, किन्तु यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ वहाँ के सामन्तवादी स्वार्थ और शोषण की प्रवृत्ति भी हमारे देश में पहुँच गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवादी स्वार्थ ने भी इसे प्रोत्साहन ही दिया। उनको तो किसी ऐसी श्रेणी की आवश्यकता थी ही, जिसके द्वारा वह जनता का शोषण जारी रख सकते और देश पर प्रभुत्व स्थिर रख सकने में समर्थ हो सकते। इसलिए उन्होंने एक ओर तो जमींदारों को शोषण और प्रजा-पीड़न का पाठ पढ़ाया और दूसरी ओर कानून बनाकर इनका संरक्षण किया।

जमींदारी-प्रथा

अवध की ताल्लुकेदारी-प्रथा का तो कहना ही क्या! इन ताल्लुकेदारों के लिए हर प्रकार के शोषण और अत्याचार उनके वाजिब हकूक हैं। उनकी जबान से जो कुछ निकल जाय, वही कानून है। उसके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि सरकारी कर्मचारी भी सर्वदा उन्हींका साथ देते हैं। किसानों से लगान लेकर कम रकम की रसीद देना और फिर बकाया लगान का दावा करना, किसीसे नजराना लेकर उसे खेत

और यह ताल्लुकेदारी!

देना और फिर उसका पट्टा किसी दूसरे के नाम लिख देना एक साधारण-सी बात है। लगान के अतिरिक्त भूसा, पुआल, मोटरावन, हथियावन आदि और विवाह, श्राद्ध तथा बच्चा पैदा होने के अवसर पर एवं प्रत्येक त्यौहार के अवसर पर सलामी वसूल करना उनका साधारण हक होता है। इसके अतिरिक्त वे जब जी चाहें, किसी भी किसान को पकड़कर बेगार करा लेते हैं, किसान के खेत बिना जोते-बोये रह जायँ, किन्तु उनका हल-बैल लेकर अपना खेत जोत लेना उनका परम्परागत हक हो गया है। किसी किसान ने जरा भी चूँ की, तो उसका खेत खुदवा देना, उसकी फसल कटवा लेना और उसको पकड़कर पिटवा देना भी बहुत मामूली बात है। इनके अत्याचार की सीमा यहाँ तक पहुँच गयी है कि किसान के लिए अपनी बहू-बेटियों की इज्जत कायम रखना मुश्किल हो जाता है। जमींदार की अभिलाषा के विरुद्ध कोई कुछ कहने का साहस नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में जब अवध के किसानों ने ताल्लुकेदारी के विरुद्ध कांग्रेस को वोट दिया, तो तुम अनुमान कर सकती हो कि इन ताल्लुकेदारों के क्रोध का पारा कहाँ तक पहुँच गया होगा। उस समय वे क्रोध से उन्मत्त हो उठे थे और उनके पास किसानों पर अत्याचार करने के जितने भी साधन थे, सबको बेलगाम खुला छोड़ दिया था। इन सब कारणों से कोई भी दिन ऐसा नहीं जाता था, जिस दिन पाँच-सात मुकदमे हमारे पास न आते रहे हों।

मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि किसानों ने बहुत साहस करके इन अत्याचारी ताल्लुकेदारों के विरुद्ध कांग्रेस को वोट दिया था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे साहसी हो गये थे। वह तो उनकी एक क्षणिक उमंग का काम था। मरता क्या न करता ? बलिदान का जीव भी गर्दन छुड़ाने के लिए एक बार जोर से छटपटाता है।

सदियों के अत्याचार से दबे हुए किसानों ने जब ताल्लुकेदारों की यह नवीन उग्र मूर्ति देखी, तो घबरा गये। इससे उनकी स्थिति और भी बुरी हो गयी, क्योंकि जमींदार के नौकरों का घबराये हुए असामियों को

सताना अत्यन्त सरल हो गया। घबराहट के कारण किसान कितने साहस-हीन हो गये थे, एकाध उदाहरणों से ही तुम इसका अनुमान कर सकोगी।

एक दिन की बात है। प्रातःकाल ९-१० बजे थे। मैं स्नान करके अखबार पढ़ रहा था। इतने में ही दो किसान मेरे पास आकर फूट-फूट-कर रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने बताया कि जिलेदार हमारे गाँव के लोगों को अकारण पीट रहा है। मैंने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि तुम लोग चलो, मैं अभी आता हूँ। वह गाँव आश्रम से करीब आठ मील की दूरी पर था। इसलिए मैं खाना खाकर साइकिल से उस गाँव के लिए चल पड़ा। रास्ते में समरसिंहपुर नाम का एक गाँव पड़ता था, जिसमें हमारे द्वारा स्थापित पंचायत के एक सरपंच रहते थे। मैं उन्हें भी साथ लेकर घटनास्थल पर पहुँचा। किन्तु वहाँ जाकर एक अजीब दृश्य देखने को मिला। गाँव में कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता था, केवल दो-तीन बूढ़ी स्त्रियाँ अपने-अपने बरामदे में बैठी नजर आती थीं। उनसे पूछकर भी हम यह नहीं जान सके कि गाँव के आदमी कहाँ चले गये। देर तक हम इस प्रतीक्षा और खोज में लगे रहे कि किसीसे भेंट हो जाय, किन्तु बहुत समय बीत जाने पर भी कोई दिखाई नहीं पड़ा। आखिरकार निराश होकर हमें वापस लौट आना पड़ा। समरसिंहपुर के सरपंच श्री मथुरासिंह उस गाँव के लोगों पर बहुत क्रोधित होकर वापस आये। रास्ते में एक दूसरे गाँव के लोगों से मालूम हुआ कि हमें आते देखकर वे छिप गये थे, क्योंकि उनमें इतना साहस नहीं था कि गाँव में बैठकर जिलेदार की निन्दा कर सकें। जो व्यक्ति शिकायत करता, उसकी सूचना जिलेदार के पास अवश्य पहुँच जाती और जिलेदार उसका गाँव में रहना असम्भव कर देता। ये बातें सुनकर किसानों की स्थिति पर विचार करते हुए मैं आश्रम वापस आया।

किसानों की साहस-हीनता के कुछ उदाहरण

किसान ताल्लुकेदार से कहाँ तक घबराता है, इसका एक उदाहरण और देना अधिक नहीं समझा जायगा।

एक दिन दोपहर के समय आश्रम से एक मील दूर पिछौरा गाँव से दो-तीन स्त्री-पुरुष दौड़ते हुए आये और कहने लगे कि जमींदार के आदमी हमारे खेत जबरन जोत रहे हैं। उस समय आश्रम पर कई भाई उपस्थित थे। हमने आश्रम के दो भाइयों को उन किसानों के साथ कर दिया। किसान आगे-आगे और हमारे आश्रमीय भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। रास्ते में एक खेत के पास ताल्लुकेदारों के सिपाही उन किसानों पर टूट पड़े। जब हमारे आश्रमीय कार्यकर्ता भी नजदीक पहुँचे, तो एक लाठी इन पर भी पड़ी। किन्तु तत्काल ही वे आश्रम के लोगों को पहचानकर भाग गये। हमारे कार्यकर्ता गाँव में गये। उन्होंने गाँववालों को साहस दिलाया कि जमींदार के आदमी जबरदस्ती खेत न जोतने पायें। फिर जो आदमी घायल हुए थे, उन्हें साथ लेकर थाने में रिपोर्ट करने चल दिये। उनके चले जाने पर ताल्लुकेदार के सिपाहियों ने गाँव में घुसकर गाँव-वालों को बहुत मारा। कुछ लोगों को तो मारते-मारते बेहोश कर दिया और कहते गये कि देखेंगे कि अब किस तरह आश्रम में जाते हो!

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं करणभाई के साथ उस गाँव में तहकीकात करने पहुँचा। रात के मारे गये लोगों को भी थाने में रिपोर्ट देने के लिए भेज दिया। लोग बहुत डरे हुए थे, किन्तु साहस दिलाने पर सब लोग उन सिपाहियों के विरुद्ध गवाही देने को तैयार हो गये। मैंने इस मामले की एक लिखित रिपोर्ट जिले के डिप्टी कमिश्नर के पास भेज दी और उनसे अनुरोध किया कि इस सम्बन्ध में पूरी जाँच की जाय। मैं उनसे स्वयं भी जाकर मिला। डिप्टी कमिश्नर और पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने आकर स्वयं जाँच की। गाँववालों ने भी साहस के साथ सच्ची-सच्ची घटना कह सुनायी। जिलाधीश ने तहकीकात करके उन सिपाहियों पर अभियोग चालू कर दिया।

ताल्लुकेदार के आदमी क्यों और कैसे दखल कर रहे थे, वह भी एक सुनने योग्य कहानी है। मैं तुम्हें पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि खेत किसी अन्य को देकर और उस पर नाम किसी अन्य का चढ़वा देना

उनका एक साधारण काम था। इसी प्रकार उस गाँव के सैकड़ों बीघे खेत, जिन्हें गाँव के किसान पचास-पचास, साठ-साठ साल से जोते हुए थे, पटवारी के रजिस्टर में जमींदार के नाम से सीर दर्ज थे। ताल्लुकेदार से तो प्रायः सभी अधिकारी मिले ही रहते हैं, इसलिए सदा उसके आदेशानुसार ही पटवारी के यहाँ इन्दराज होता रहा। बन्दोबस्त के समय बन्दोबस्त के अफसरों ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया। आखिर वे भी तो जमींदार के दोस्त बनकर उनसे इच्छानुसार पूजा प्राप्त करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब जमींदार किसी भी ऐसे खेत के लिए यह कह दे कि यह मेरा खेत है, तो किसानों के लिए उसे अपना सिद्ध करना कठिन हो जाता है। हाँ, गवाहों द्वारा कब्जा अवश्य ही सिद्ध किया जा सकता है; किन्तु इस प्रकार के जालिम और सर्वशक्तिमान् ताल्लुकेदारों के विरोध में साक्षी देने का साहस कौन कर सकता है? इस प्रकार झूठी सीर लिखी हुई जमीन छीनकर वह गाँव पर अत्याचार करना चाहता था, किन्तु जब यह अभियोग डिप्टी कमिश्नर की कचहरी में चला गया, तो उसे कुछ परेशानी अवश्य हुई। पर तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि अन्त में गाँव-वाले उस ताल्लुकेदार के दबाव से इतना घबड़ा गये कि सब-के-सब डिप्टी कमिश्नर के यहाँ जाकर उसके अनुकूल गवाही दे आये। कालान्तर में मुझे मालूम हुआ कि उन पर दबाव डालने में पुलिस ने भी जमींदार का साथ दिया था।

किसानों के खेत कैसे छीने जाते हैं?

इस प्रकार मामला समाप्त हो जाने पर भी जमींदार का क्रोध शान्त नहीं हुआ। थोड़े ही दिनों के भीतर उस गाँव के एक आदमी का कत्ल करा दिया गया। यह आदमी वही था, जिसने ताल्लुकेदार के विरुद्ध सबसे पहले आवाज उठायी थी।

ब्रिटिश अधिकारी समय-समय पर भारतीय जनता को सुख-शान्ति प्रदान करने की डींग हाँकते हैं। उनके द्वारा लिखित पुस्तकों के जरिये यह प्रचार किया जाता है कि उनकी राज्य-व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि

भारतवर्ष में चोर, लुटेरे और डाकुओं का भय नहीं रह गया। किन्तु जब हम देखते हैं कि ये साम्राज्यशाही लूट के दलाल गाँव के गरीब किसानों का डाका, लूट और खून आदि से किस प्रकार संरक्षण कर रहे हैं, तो साफ जाहिर होता है कि वर्तमान शासन ने प्राचीन काल के साँझ-सबेरे होनेवाले डाका और लूट के स्थान पर इनका व्यवस्थित रूप से इस्तमरारी बन्दोबस्त कर रखा है। यदि ये एक-आध ऐसी घटनाओं को कहीं रोकते भी हैं, तो इसलिए नहीं कि वे हिन्दुस्तान की गरीब जनता को आराम पहुँचाना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि वे नहीं चाहते कि उनके नियत किये गये एजेण्टों के अतिरिक्त दूसरा कोई उन्हें लूटे।

व्यवस्थित लूट की प्रणाली

गाँव के केवल वे ही किसान नहीं सताये जाते, जो ताल्लुकेदारों की भूमि में रहते हैं। छोटे-छोटे जमींदार, जिन्होंने निर्वाचन में कांग्रेस का साथ नहीं दिया था, ताल्लुकेदारों से भी अधिक पागल हो गये थे। ताल्लुकेदार तो किसानों से दूर रहते हैं। किसानों की अवज्ञा उनके सामने से नहीं गुजरती, किन्तु छोटे जमींदार तो सदा उनके सिर पर सवार रहते हैं और समय पर डण्डा लेकर पहुँच जाते हैं। शायद इसीसे किसानों में एक कहावत प्रचलित है—"घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा, मेड़चढ़ा नहीं।" छोटे जमींदार न तो किसानों को पट्टा ही देते हैं और न कभी लगान की रसीद ही। इसलिए उनके किसान सोल्हो आने उनकी अधीनता में रहते हैं।

'घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा, मेड़चढ़ा नहीं'

इस प्रकार चुनाव के पश्चात् ताल्लुकेदारों और छोटे जमींदारों का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि हमारी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः उसीके निराकरण में लग जाती थी। ग्राम-सेवक के लिए जनता की हर तकलीफ में साथ रहना परम धर्म है। गाँव के लोग उससे यही अपेक्षा भी रखते हैं।

आशा है, तुम सभी लोग स्वस्थ होगे। सबको नमस्कार। ● ● ●

किसानों और मजदूरों की बेबसी : ३८ :

१९-१०-'४१

शायद ही कोई ऐसा पढ़ा-लिखा मनुष्य होगा, जो आजकल के जमींदारों के किसानों पर अत्याचार करने का हाल कुछ-न-कुछ न जानता हो। किन्तु अवध के किसानों को मौरूसी हक नहीं मिलता, जिससे वे उन अत्याचारों के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकते। कानून कुछ इस ढंग से बना हुआ है कि जमींदार यदि कानून के खिलाफ भी ज्यादती करे, तो किसान उसे सहने के लिए मजबूर हैं। किसान ताल्लुकेदार को नजराना देकर जमीन का पट्टा लेता है, किन्तु उस पट्टे की मीयाद केवल उसीके जीवन तक समाप्त हो जाती है और उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद जमींदार उसके कुटुम्बियों को बेदखल कर देता है तथा नये सिरे से नजराना लेकर उसका नया पट्टा लिखता है। यदि उसके बाल-बच्चे दूसरे लोगों से अधिक नजराना देने की व्यवस्था न कर सके, तो उनका खेत औरों के हाथ में चला जाता है और वे सदा के लिए बेदखल हो जाते हैं। जीवित रहने के एकमात्र साधन अपने खेतों को बचाने के लिए लोग अधिक-से-अधिक ब्याज दर पर भी महाजन से कर्ज लेते हैं और इस प्रकार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्र के जीवन पर कर्ज के बोझ का दबाव आ पड़ता है।

कानूनी त्रुटियाँ

इस तरह लम्बा नजराना देकर प्राप्त की गयी जमीन के लिए भी यह कोई आवश्यक नहीं कि किसान अपने जीवनभर उसका उपयोग कर सके, क्योंकि जमींदार उसे कई अन्य तरीकों से जब चाहे तब बेदखल कर सकता है। किसान किसी कारण-वश अपने खेत का कोई भाग न जोत सके और उसे किसी अन्य को जोतने के लिए दे दे, तो जमींदार उसे सारी जमीन से बेदखल कर देता है। लगान न देने के अपराध में बेदखली हो जाती है।

बेदखली के गोरखधन्धे

यदि चार-छह आने ही बाकी रह जायँ, तब भी किसान अपनी सारी जमीन से बेदखल हो जाता है। ताल्लुकेदार के कर्मचारी किसानों को हर प्रकार से अपने पञ्जे में रखने के लिए उनसे पूरा लगान लेकर भी उन्हें पूरी वसूली की रसीद नहीं देते। सदा कुछ-न-कुछ बकाया तो लगाये ही रहते हैं। यदि किसी समय किसी पर भृकुटी टेढ़ी हुई, तो उसी बकाया रजिस्टर के आधार पर दावा कर देते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि जमींदार के कर्मचारी किसानों को तंग करने की नीयत से फसल का मौसम न रहने पर भी लगान माँग बैठते हैं और यदि दो-एक दिन के भीतर उन्हें लगान न मिला, तो दावा कर बैठते हैं। इस प्रकार यदि किसान कहीं से कर्ज लेकर अदालत में हाजिर भी हुआ, तो कम-से-कम अदालत तक आने-जाने का व्यय-भार तो उसे उठाना ही पड़ता है और उसे लगान से कई गुने के चक्कर में पड़ ही जाना होता है। किसानों को कर्ज देनेवाले भी या तो जमींदार के एजेण्ट ही होते हैं या ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो जमींदार से मिले-जुले रहते हैं। वे एक ओर से दबाते हैं और दूसरी ओर कर्जा लेने के लिए बाध्य करते हैं। इस तरह वे किसानों से दोहरा फायदा उठाते हैं।

बेदखली के ये अधिकार किसानों से जो चाहे सो कराने के लिए काफी हैं। बेदखली की पिस्तौल सदा उनके सिर पर तनी रहती है।

जमींदारों को मुआवजा देना अनुचित है

यद्यपि नजराना लेने का कोई कानूनी हक नहीं है, फिर भी उन्हें देना ही पड़ता है। साधारणतया प्रति बीघे पचास-साठ रुपये नजराने देने पड़ते हैं, जो लगभग जमीन के दाम के बराबर ही होता है। कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल में इस विषय पर विवाद चला था कि यदि जमींदारों से जमीन ले ली जाती है, तो उन्हें मुआवजा देना चाहिए अथवा नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि अब इस विषय पर विवाद करने की आवश्यकता ही क्या रह गयी है? नजराना के रूप में उन्होंने अब तक इतना अधिक रुपया प्राप्त कर लिया है, जो जमीन के वास्तविक मूल्य से कई गुना हो सकता है। इसके अतिरिक्त आये दिन वे किसानों से जो तरह-तरह की

रकमें लेते रहते हैं और उन पर जो तरह-तरह के अत्याचार करते हैं, उसका तो हिसाब ही अलग है। इन अत्याचारों को किसान इसी भय से चुपचाप सहन कर लेते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि जमींदार नाराज होकर उनके जीवन-यापन के एकमात्र साधन खेतों से बेदखल कर दे। अन्त में उनकी यह बेबसी इस दर्जे तक पहुँच जाती है कि वे जमींदार और उनके कर्मचारियों की माँग के विरुद्ध अपनी बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा बचा सकने में असमर्थ हो जाते हैं और उनकी माँगों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने का साहस उनमें नहीं रह जाता।

यह बात सही है कि कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल स्थापित हो जाने पर तथा नये विधान के निर्माण के पश्चात् परिस्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु सदियों से जमींदारों द्वारा सताये जाने के कारण उनमें इतना साहस नहीं रह गया है कि वे अपने सत्य पर अड़ सकें। नये कानून के बन जाने पर उनकी अवस्था ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार गरीब जमींदार को अपनी जमीन की डिग्री अदालत से मिल गयी हो, किन्तु अपनी गरीबी और बेबसी के कारण वह उस पर अधिकार न कर पाता हो।

यह तो हुई किसानों की स्थिति, अब उन मजदूरों का भी कुछ हाल सुनो, जो किसानों के साथ गाँव में रहते हैं।

गाँव में मजदूरी करनेवाले लोग प्रायः चमार, केवट और पासी आदि होते हैं। इनके अलावा कुर्मी, अहीर, कुम्हार आदि भी, जिनके पास अपना खेत बहुत कम है, दूसरों के खेत में मजदूरी करते हैं। साधारणतया गाँव के जमींदार मजदूरों को कुछ खेत दे देते हैं, जिसके बदले वे या तो लगान लेते हैं अथवा मजदूरी करा लेते हैं। जो लोग मजदूरी कराते हैं, वे मजदूरी का कोई हिसाब नहीं रखते। दस-बारह घण्टे तक मजदूरों को खेत में काम करना पड़ता है, जिसके बदले में उन्हें सेर-डेढ़ सेर मटर या चना जैसा घटिया अनाज दिया जाता है। कहीं-कहीं सवेरे के समय पावभर चबेना भी देते हैं। इस प्रकार हिसाब की दृष्टि से दस-बारह घण्टे की मजदूरी एक आने या छह पैसे तक

यह सस्ती मजदूरी!

पड़ती है। यह थोड़ी-सी मजदूरी भी मजदूरों को तभी मिलती है, जब खेत में काम करने का समय होता है। इसके अतिरिक्त गृहस्थी के छोटे-मोटे काम तो उनसे मुफ्त ही करा लिये जाते हैं।

अधिकतर जमींदार जिस प्रकार किसानों को सताते और लूटते हैं, उसी प्रकार वे मजदूरों के साथ भी व्यवहार करते हैं। अनाज, तेल, नमक और तम्बाकू के लेन-देन में अन्धेर की सीमा हो जाती है। जब ये चीजें मजदूरों के पास नहीं रह जातीं, तो वे अपने मालिकों से उधार लेते हैं और जब मजदूरी का जमाना आता है, तो मजदूरी में से कटवा देते हैं, परन्तु काटते समय जमींदार लोग बहुत बढ़ाकर दाम लगाते हैं। इसी प्रकार जिन मजदूरों के पास कुछ खेती होती है अथवा जो छोटे किसान होते हैं, उनसे ये जमींदार सालभर अनाज, घी और तेल आदि लेते रहते हैं। वर्षान्त में इन चीजों का मूल्य लगान में या अपने दिये हुए रुपये के सूद में काट देते हैं। किन्तु हिसाब करते समय बड़ी बेरहमी के साथ चीजों का सस्ता-से-सस्ता मनमाना भाव लगा लेते हैं। इन बातों के अतिरिक्त मजदूरों को मार-पीट-कर उनसे अधिक काम करा लेना, उनकी झोपड़ी के आगे-पीछे या छप्पर पर लगी हुई सब्जी, तरकारी और तम्बाकू आदि जबरदस्ती तोड़ लेना उनके लिए साधारण बातें हैं।

मनमाना भाव

मजदूरों के पास कमाने का अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिए चुपचाप इन अत्याचारों को सहने के अलावा और कोई चारा नहीं।

मैं स्वस्थ हूँ। आशा है, तुम सभी लोग भलीभाँति होगे। सबको नमस्कार।

● ● ●

जमींदारी-प्रथा : एक अभिशाप

: ३६ :

२१-१०-'४१

कल हम लोगों ने खूब दिवाली मनायी। अपनी-अपनी बैरकों को प्रकाश से खूब सजाया। इतने प्रकाश का हो जाना इस जेल की दुनिया के लिए बिल्कुल नयी बात थी। रात के समय 'कैम्पफायर' की तरह का तमाशा भी हुआ। लोग विचित्र-विचित्र पोशाकें पहनकर अपना खेल दिखाते थे। कोई स्त्री बनकर आता था, कोई पुरुष, कोई अफगानिस्तान के पठान का रूप ग्रहण करता था और कोई विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न बनकर पहुँचता था। इस तरह रातभर खूब हो हल्ला रहा, जिससे महीनों की उदासीनता समाप्त हो गयी। तुम्हें ज्ञात है कि किसान और जमींदार के झगड़ों की समस्या सुलझाने के लिए आजकल बहुत-से लोग देहात में जाते हैं, किन्तु उनमें प्रायः एकरुखी भावना होती है। मेरे पिछले पत्रों से तुम्हें यह ज्ञात हो गया होगा कि जमींदार किसानों को कितना परेशान करते हैं। इसलिए ग्राम-सेवक के मन में जमींदारों के प्रति कटु भावना का होना स्वाभाविक है। जब कोई किसान किसी ज़मींदार के विरुद्ध कोई शिकायत लेकर आता है, तो हमारा दिमाग तुरन्त किसान के पक्ष और जमींदार के विपक्ष में हो जाता है। किन्तु मैंने यह महसूस किया है कि इन अभियोगों में से बहुत से असत्य भी होते हैं। हम यदि किसान की केवल मौखिक बातें सुनकर जमींदार के विरुद्ध अपनी भावना बना लेते हैं, तो हम किसी पक्ष के प्रति न्याय नहीं कर सकते। मैंने अनुभव किया है कि ६० प्रतिशत ग्राम-सेवक यह भूल कर बैठते हैं। अपने सामने घटित हुई ऐसी एकआध घटना का उल्लेख कर रहा हूँ, जिससे तुम्हें यह पता चल जायगा कि किसानों के इस प्रकार के असत्य मामले भी हमारे सामने आते थे।

किसानों द्वारा असत्य आरोप

एक दिन खाना खाने के बाद मैं चर्खा चला रहा था। भींटी के पास का एक किसान दौड़ा हुआ आया और एक पैर पर खड़ा होकर रोने लगा। सान्त्वना देने पर वह कुछ शान्त होकर कहने लगा—"भइया, भींटी के सिपाही के मारे हम रहे नाहीं पाइत। वे हमका मारत हैं और कहत हैं कि तुम्हें हम नाहीं रहे देब। जिनका वोट दिये हो, उनहीं के खेत जाकर जोतो और उनहीं की जमीन पर बसो।" उस समय आश्रम पर करणभाई या ब्रह्मचारी कोई भी नहीं थे। मैंने उसका और उसके गाँव का नाम लिख लिया और कह दिया कि जाओ, मैं किसीको भेजूँगा। वह मेरा पैर पकड़कर रोने लगा और कहने लगा—"अभी चलो, हमारे घर भर का निकाल दीहिस है और हमारे रहे के कौनों ठेकान नाहीं बाय और बिना तुहरे वह केहू दूसरे के मान कै नाहीं बाय।" उसकी करुण कहानी सुनकर मैंने उससे कहा कि तुम चलो, हम अभी आते हैं। उसके जाने के लगभग आध घण्टे पश्चात् मैं साइकिल से उसके घर पहुँचा। तब तक वह अपने घर नहीं पहुँचा था। रास्ते में मैंने उसे कहीं नहीं देखा था, किन्तु उसके घर की स्थिति देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। घर पर बिल्कुल शान्ति विराज रही थी। ऐसा नहीं लगता था कि उन लोगों पर किसी प्रकार की आपत्ति आयी हुई है। एक स्त्री शान्तिपूर्वक बैठकर चर्खा कात रही थी। बच्चे इधर-उधर खेल रहे थे। मैंने उसी स्त्री से उस मनुष्य के सम्बन्ध में पूछा। उसने उत्तर दिया कि वह तो आश्रम की ही ओर गये हुए हैं और अब तक घर वापस नहीं आये। मैं वहीं पर बैठ गया और उस स्त्री से बातचीत करने लगा। जब मैंने उससे पूछा कि आश्रम जाने की क्या आवश्यकता आ पड़ी, तो उसने कहा कि "सिपहिया हम सबका तंग करत है, वही का शिकायत करे गये हैं।" फिर मैंने धीरे-धीरे उसी स्त्री से सारी बातें पूछ लीं। मालूम हुआ कि यह झगड़ा बहुत पुराना है और दोनों में बहुत दिनों से चलता रहता है। पूछताछ करने पर यह भी मालूम हुआ कि उस किसान के परिवार के किसी भी व्यक्ति का नाम वोटर लिस्ट में नहीं था। इन बातों की

विशेष व्याख्या करना व्यर्थ-सा ही है। निष्कर्ष यही है कि इस झगड़े में वे दोनों ही अपराधी थे। हाँ, वह सिपाही जमींदार का कारिन्दा भी था, इसलिए वह अधिक ज्यादती कर सकता था, किन्तु मुझसे जिस घटना का उल्लेख किया गया था, वह आदि से अन्त तक झूठी थी।

इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों मामले आया करते थे, जो जाँच करने पर असत्य सिद्ध होते थे। एक स्थान पर तो किसान ने जमींदार के विरुद्ध प्रचार करने के लिए अपना झंडा स्वयं अपने हाथों से तोड़ डाला और हल्ला मचाना शुरू किया कि जमींदार ने मेरा झंडा तुड़वा दिया है। उसके इस प्रचार से देहात में काफी हल्ला मचा। अन्त में जब करण-भाई ने घटनास्थल पर जाकर पता लगाया, तो कुछ दूसरा ही विवरण मिला।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही गाँव के दो जमींदार आपसी शत्रुता के कारण एक-दूसरे की रिआया को अकारण ही उभार दिया करते हैं। अन्त में जब स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाती है, तो मामला हमारे पास पहुँचता है। ऐसे अभियोगों में एक जमींदार दूसरे की रिआया के प्रति स्वभावतः बहुत अधिक हमदर्दी प्रकट करने लगता है। ऐसे मामलों का सुलझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि हमने यदि किसी तरह से मामला सुलझा भी दिया तथा किसान और जमींदार में किसी तरह समझौता भी करा दिया, तो हमारे चले आने पर वह समझौता स्थिर नहीं रह पाता।

जमींदारों के झगड़े

इन दृष्टान्तों से तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो गया होगा कि ग्राम-सेवक को किसान और जमींदार के झगड़े सुलझाने में बहुत शान्ति और धैर्य से काम लेना चाहिए। मौखिक शिकायतें सुनकर तदनुसार अपनी धारणा बना लेना बहुत गलत है।

हम लोगों को जब कभी इस प्रकार की रिपोर्ट मिलती थी, तो पहले हम उसे लिख लेते थे। फिर हममें से कोई व्यक्ति घटना-स्थल पर पहुँच जाता था और जमींदार से भेंट कर तथा उसका भी बयान लेकर दोनों

पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता था। अपनी शक्तिभर हम लोग यही प्रयत्न करते थे कि जमींदार यदि थोड़ी भी सुविधा प्रदान करने की स्वीकृति दे, तो दोनों पक्षों में समझौता अवश्य हो जाय। हम लोगों ने कोई ऐसी मर्यादा नहीं निश्चित की थी कि जमींदार के किस सीमा तक झुकने पर समझौता किया जाय। परिस्थिति के अनुसार झगड़े की गम्भीरता और स्थानीय किसानों की संगठन-शक्ति के आधार पर मर्यादा बना ली जाती थीं। कभी-कभी तो हमें यही उचित लगता था कि जमींदारों के अत्याचार को हम चुपचाप सहन कर लें, क्योंकि स्थानीय किसान आपस में बड़ा कलहपूर्ण व्यवहार रखते थे और बड़े बुजदिल थे। हमें आशंका होती थी कि यदि किसी भी प्रकार का झगड़ा उठाया गया, तो ये लोग बेतरह पिस जायँगे और इनका किया-धरा कुछ हो नहीं सकेगा। कभी-कभी हमें कुछ किसानों के झगड़े लेकर कचहरी तक भी पहुँचना पड़ता था और उनके लिए पैरवी की कुछ सुविधा की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। अवसर आने पर हाकिमों और पुलिस अफसरों से मिलकर भी हम उनके मामले तय कराने की कोशिश करते थे। कचहरी में मुकदमे ले जाने पर प्रायः हमें बहुत कटु अनुभव हुआ।

हमारी जाँच का तरीका

मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि अवध के किसान नितान्त साधनहीन स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं। इसलिए वे कचहरी में जाकर न तो अच्छे वकील कर सकते हैं और न तो गवाहों के ही लिए कुछ व्यय कर सकते हैं। इसके विरुद्ध जमींदारों के पास पर्याप्त धन होता है, प्रजा को दबाने की शक्ति होती है तथा पुलिस और अन्य अधिकारी सर्वदा उनका साथ देते हैं। इसलिए किसी मुकदमे को शुरू करते समय गाँव के किसानों में काफी संघटन रहता है, पर जैसे-जैसे मामला आगे बढ़ता है और दिन बीतते जाते हैं, वैसे-वैसे जमींदार के दलाल दबाव डालकर, धन का लालच देकर, पुलिस द्वारा दबाव डलवाकर किसानों के गवाहों को फोड़ लेते हैं और इस प्रकार किसान अपने सच्चे मुकदमे को भी

कचहरी में हार जाता है और कालान्तर में उसे लेने के देने पड़ जाते हैं।

ऐसे कई अनुभवों के बाद हम लोग किसानों के मामले कचहरी में ले जाते समय डरते रहते थे और जहाँ तक सम्भव होता था, ऐसी परिस्थिति से बचने का प्रयत्न करते थे। जहाँ के किसान कुछ संघटित प्रतीत होते थे, वहाँ यदि जमींदार से समझौता नहीं हो पाता था, तो उनके द्वारा छोटा-मोटा क्षणिक सत्याग्रह करा देना ही अधिक लाभप्रद होता था। किन्तु जिस स्थान पर किसानों में अच्छा संघटन नहीं देखते थे, वहाँ जमींदार समझाने-बुझाने से जितनी सुविधाएँ दे सकता था, उतने ही पर किसानों को सन्तोष कर लेने की सलाह देते थे। इसके अलावा हम किसानों में मेल और संघटन पैदा करने का प्रयत्न भी करते थे। उसके लिए हम कभी-कभी किसानों को अड़ जाने की सलाह भी देते थे और किसी मामले में विजय प्राप्त कर लेने पर भी दूसरे मामले में दब जाने की भी सलाह देते थे।

परिस्थिति के अनुसार कार्य

हम किसानों के झगड़ों को इस तरह सुलझाने की कोशिश करते थे, जिससे किसानों की न्यूनातिन्यून शक्ति के प्रयोग से काम चल जाय। जहाँ तक सम्भव होता था, शान्ति से ही काम लेते थे।

इन कार्यों में हम लोग सदा लगे ही रहते थे, किन्तु तभी रह-रहकर हमारे मस्तिष्क में यह भावना उठा करती थी कि इस जमींदारी-प्रथा की समाज में क्या आवश्यकता है ? सम्भव है, किसी युग-विशेष में इससे कोई सहूलियत की व्यवस्था होती रही हो अथवा यह शासन-व्यवस्था में एक मध्यस्थ एजेण्ट की तरह सहायक का काम देती रही हो किंवा समाज-संघटन का सफल नेतृत्व करती रही हो, किन्तु उस समय यह भी रहा होगा कि इन जमींदारों के प्रति भी सामाजिक बन्धन अत्यन्त दृढ़ और कठोर रहे होंगे और उनके लिए समाज द्वारा निश्चित किये गये कार्यों की अवहेलना करना अत्यन्त कठिन रहा होगा। किन्तु आज की व्यवस्था

आज जमींदार व्यर्थ है !

में जमींदार का कोई स्थान नहीं रह गया है। जमींदारों की उत्पत्ति विदेशी लूट में सहायक के रूप में हुई थी, इसलिए जब तक इनके भीतर प्राचीन संस्कृति का अवशेष रहा, तब तक इनकी प्रवृत्ति कुछ अच्छी रही। किन्तु धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट की शिक्षा ने उन्हें सर्वथा जालिम बना दिया और अन्त में उनका अत्याचार साम्राज्यवादी अत्याचार से भी आगे बढ़ गया। आज का जमींदार देहात की गरीब और मजदूर जनता के लिए शोषण और अत्याचार की मशीन बन गया है।

आखिर जमींदार हैं ही कितने? युक्तप्रान्त में कुल साढ़े बारह लाख जमींदार हैं। इनमें लगभग दस लाख तो ऐसे जमींदार हैं, जो केवल सौ रुपये वार्षिक तक मालगुजारी देते हैं। ये इतने गरीब हैं कि इनकी अवस्था किसानों से भी खराब है। उन्हें एक प्रकार का रैयतवारी किसान ही कहना अधिक संगत है। किन्तु चूँकि इनका नाम जमींदार है, इसलिए चाहे इनके घरों में दोनों समय चूल्हा भले ही न जले, किन्तु इनकी ऐंठ बादशाही ढंग की ही होती है। जिस समय हम लोग 'जमींदारी का नाश हो' का नारा लगाते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य ५०००) या अधिक वार्षिक मालगुजारी देनेवाले केवल २२०० जमींदारों से ही होता है। ये जमींदार नामधारी किसान हमारे उक्त नारे से घबड़ाकर पागल हो उठते हैं और हमारे आन्दोलन के प्रवाह में गड़बड़ी पैदा कर देने के कारण बन जाते हैं। वही एक सम्प्रदाय है, जो अत्यन्त गरीब हो जाने पर भी अपने प्राचीन संस्कार के कारण ग्रामीण जनता का मुखिया है। अतः ग्राम-सेवक को सावधानी से कदम बढ़ाना चाहिए। यदि हम लोग ग्राम-उद्योग के द्वारा बेकार ग्रामीण जनता की आर्थिक समस्या हल करते रहेंगे और उसीके साथ-साथ जमींदारी-प्रथा की अनुपयोगिता बताते रहेंगे, तो इस कुप्रथा को समाप्त करना सरल हो जायगा।

आशा है, वहाँ के सभी लोग सकुशल होंगे। नमस्कार। ● ● ●

आपसी झगड़ों की समस्या

: ३७ :

२२-१०-'४१

आज भ्रातृद्वितीया है। स्वभावतः तुम लोगों की याद आती है। आज के दिन संसार की सब बहनों की शुभ कामनाओं को लेकर हम लोग जीवन-संग्राम में आगे बढ़ते हैं। आज इसी पत्र की मार्फत सब बहनों को शुभ कामना भेज रहा हूँ।

आज मैं तुम्हें देहात के झगड़ों की बात बताऊँगा। ज्यादातर जायदाद के बँटवारे पर झगड़ा होता है। लोग कहते हैं कि इस झगड़े की जड़ स्त्री-जाति की माया है। मुझे तो पता नहीं, स्त्री होने के नाते तुम्हीं ठीक अन्दाज कर सकती हो। ये झगड़े कभी-कभी भयानक रूप ले लेते हैं। भाई-भाई में जब दुश्मनी हो जाती है, तो आजीवन किसी-न-किसी बहाने

जमीन-जायदाद के बँटवारे के झगड़े

झगड़ा होता ही रहता है। बँटवारे का झगड़ा यदि कचहरी चला जाता है, तो सारे परिवार का एकबारगी नाश हो जाता है। इस नाश में गाँवभर के लोग शामिल रहते हैं। खास तौर से जो लोग पैसा उधार लेते हैं, वे तो किसी-न-किसी पक्ष के हितू बन ही जाते हैं और उसका पूरा नाश कराके अपना काम बना लेते हैं। ऐसे कुछ लोग भी इस झगड़े को बढ़ाने में काफी दिलचस्पी लेते हैं, जो हमेशा उस परिवार की हैसियत से ईर्ष्या करते रहते हैं। या जो उस परिवार के पूर्वजों के पट्टीदार के वंश के हैं या जो गाँव के रूखे जीवन से ऊबे हुए रहते हैं और हमेशा कुछ-न-कुछ तमाशा ढूँढ़ते रहते हैं। स्त्रियों को ऐसे झगड़ों में बड़ा रस आता है। संयोग से दो भाई आपस में सुलह से बँटवारा करने लगते हैं, तो सारे गाँव की ऐसी हालत होती है, मानो गाँव में कुछ अन्धेर हो रहा है।

आश्रम के पास ही एक गाँव के एक जमींदार परिवार में तीन भाई मिलकर बड़े सुख से रहते थे। उनमें से दो सगे भाई थे और एक चचेरा

भाई। हम लोगों के रणीवाँ जाने के बाद से उस परिवार के बड़े भाई, जो सारे परिवार का सब काम सँभालते थे, कांग्रेस के प्रति आकृष्ट होते गये और धीरे-धीरे गांधीजी के परम भक्त बन गये और आसपास के बहुत से लोगों के सामने पुरानी रूढ़ियाँ छोड़ते गये। इनका ऐसा आचरण चचेरे भाई साहब को पसन्द नहीं था। वे कभी-कभी इस पर बड़ा एतराज किया करते थे और बँटवारे की भी धमकी दिया करते थे। जायदाद के आधे के हिस्सेदार वे थे और आधे में ये दो भाई। आखिर बँटवारे का निश्चय हो ही गया। लेकिन बड़े भाई ने अपने को दबाकर भी इस ढंग से बँटवारा किया कि किसी तरह से झगड़ा न होने पाये। इस मामले ने सारे गाँव तथा आसपास के गाँवों में तूफान पैदा कर दिया। सभी लोग परेशान थे कि बिना झगड़ा किये, बिना किसीको बुलाये बँटवारा कैसे हो सकता है। शुरू में तो लोगों ने इधर-उधर कानाफूसी करके अंट-शंट बातें फैलानी शुरू कीं, जिससे भाइयों में गलतफहमी और सन्देह पैदा हो सके। लेकिन उससे कुछ काम नहीं बना। फिर लोगों ने बड़े भाई से कहना शुरू किया : "भला ऐसे भी कहीं बँटवारा होता है। तुम तो अपने को बरबाद कर रहे हो। तुम तो कहते हो कि वे जौन माँगें तौन देईं, मुला यह तो समझे न चाही कि तुम्हार भाई आटे, लरिका आटे। वै का करिहैं। भला ऐस कहीं होत है। वै तुम्हारा मूँड़ माँगै तौ कटाके दै देहो का?" आदि। लेकिन वे लोग उन्हें अपनी टेक से हिला नहीं सके। वे सबको एक ही जवाब देते थे—"भइया, एहिमा हमका फायदा बा।" या "आखिर वे भी तो हमारे ही भाई हैं। फिर हम तो अपनी समझ से न्यायपूर्वक ही बँटवारा कर रहे हैं।"

कहीं किसीके दरवाजे पर दो-चार आदमी बैठकर गपशप करते हों और उनका बेटा दीख पड़े, तो वे झट एक-दूसरे से कहने लगते—"अरे भइया, वै तो आज कांग्रेसी है गये; बिहान जेल जवइयाँ हैं। के जानै परौं साधू ह्वै जायँ, लेकिन एह तरह एक लाग अपने बेटवा कै मूड़ काटे के चाही?" इस तरह वे उनके बेटों को बहकाने की कोशिश करते थे।

मैं उन दिनों जब देहात जाता था, तब लोगों को इसी तरह बातें करता हुआ पाता था। एक दिन मैं एक घर के आँगन में जाकर बैठा, तो वहाँ चार-पाँच स्त्रियाँ बातचीत कर रही थीं। एक स्त्री ने मुझसे कहा—"भइया, एह साइत हमरे सब बहुत तकलीफ मां हईं। का बताईं अइसन सुखी घर चूर-चूर होत नाहीं देखा जात। हमरे सब रोय-रोय कै दिन काटित है।" इतने में दूसरी स्त्री बोली—"लेकिन भइया, फलाना बाबू खूब किहिन। जौन-जौन भइया कहत है सब हाँ करत जात हैं। एतनी भारी जायदाद बँटत बाय, कहीं चूँ नहीं सुनाई देत बाटै। अरे भइया, जायदाद बँटत मां जौन गति है जात है।" तीसरी ने कहा—"रहे द बहनी तू हूँ जवन मेहरारू बाटू। वे अस किहिन तौ कौन बात कै लिहिन। तुहरे लोगन दुनियाभर कै बखान करत फिरत हऊ। वे करैं न त क्या करैं। सम्मे जायदाद तो छोटे भाई की ही है। अपने तो कुल कर्जा में बूड़त बाटैं। दिखावे खातिर वै बड़े दानी बनत हैं।" चौथी स्त्री—"चाहे जौन कहौ बहिनी, वै तो सब उठा के दै देत हवैं, रंचौ खियाल नाहीं करत हवैं कि आपन बेटवा का खइहै।"

दूसरों के घरों में आग लगानेवाले परोपकारी

इस तरह स्त्रियाँ झगड़ा फैलाकर दिमाग खराब कर रही थीं। आखिरकार लोगों ने घपला मचा ही दिया। सारा बँटवारा हो जाने पर एक छोटी-सी बात लेकर उनका बेटा लड़ पड़ा और कहा कि "मैं घर ही छोड़कर चला जाऊँगा।" पिता ने उसे बहुत समझाया, लेकिन वह नहीं माना और सबेरे उठकर चुपके से कहीं भाग गया।

बेटे के चले जाने के बाद भी लोगों ने उन पर दबाव डाला। लेकिन वे अपने संकल्प पर अड़े रहे। उनके इस व्यवहार के कारण बँटवारा हो जाने पर भी दोनों भाइयों में दुश्मनी नहीं हुई। तुम देख सकती हो कि ऐसे मामले में झगड़ा न रहते हुए भी गाँववाले झगड़ा करा ही देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि झगड़े की आग से वे भी हाथ सेक सकेंगे।

गाँव के अन्दर ऐसी बहुत सी चीजें रहती हैं, जो किसी एक व्यक्ति

की निजी नहीं होतीं; जैसे सम्मिलित कुआँ, बाग, तालाब और परती इत्यादि। इन चीजों के लिए प्रायः झगड़ा हुआ करता है और कभी-कभी फौजदारी भी हो जाती है। बाग के फल का बँटवारा किस तरह से हो, लकड़ी कौन काटे, तालाबों और कुएँ के पानी से कौन अपना खेत पहले सींचे, परती में किसके जानवर चरें, तालाबों की मछली किस तरह बेचे, ऐसी अनेक बातें झगड़े का कारण होती हैं। देहात में झगड़ा, मारपीट और मुकदमेबाजी का एक और बड़ा कारण है मेंड़। खेतों के बीच में जो मेंड़ होती है, उसके दोनों तरफ के किसान इस कोशिश में रहते हैं कि आधी मेंड़ अपने में कर लें। खेत जोतते समय वे चुपके से थोड़ी-थोड़ी मेंड़ अपने खेत में मिला लेने की कोशिश करते रहते हैं। कभी-कभी टेढ़ी कुदाल से मेंड़ के ऊपरी हिस्से को ठीक रखते हुए भीतर-भीतर उसे पोला कर लेते हैं, जिससे बरसात में पानी बरसने पर मेंड़ की मिट्टी गलकर ऊपरी भाग भी खेत में शामिल हो जाय। इस प्रकार की चेष्टा से किसानों के बीच बड़ी-बड़ी फौजदारियाँ हो जाती हैं, जिनके फलस्वरूप वे तबाह हो जाते हैं।

सामूहिक वस्तुओं के सम्बन्ध में झगड़े

परिवार की कोई स्त्री यदि विधवा हो जाती है, तो उसकी सम्पत्ति को सब लोग लालच की दृष्टि से देखते हैं और परिवार का हर आदमी विधवा को धोखा देकर उसके जीते-जीते उसकी सम्पत्ति स्वयं ले लेने की कोशिश करता है, जिससे पारस्परिक ईर्ष्या के कारण झगड़ा होता रहता है। छोटे-मोटे झगड़ों के बढ़ने से बँटवारे की नौबत आ जाती है और लोग अलग हो जाते हैं। फिर विधवा की सम्पत्ति किसकी देखरेख में चलेगी, इस पर झगड़ा बढ़ जाता है।

धन हड़पने की नीयत

गाँव के नाई, धोबी, चमार और खेत के मजदूर भी सबके काम के लिए होते हैं। इनसे कौन ज्यादा काम लेता है, कौन पहले काम ले, पट्टीदारों में इसकी भी नोंक-झोंक चलती रहती है और कभी-कभी मामला

मजदूरों को लेकर होनेवाले झगड़े

बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह से यदि दो पट्टीदारों का एक ही असामी हुआ, तो लगान के अलावा उसकी जोत से अन्य पचासों तरह के नाजायज फायदे उठाने के लिए झगड़ा चलता रहता है।

एक जगह तो हमको बहुत ही मजेदार अनुभव हुआ। जब मैं ग्राम-सुधार का चेयरमैन था, तो अपने दौरे के सिलसिले में एक गाँव में पहुँचा। उस गाँव में एक परिवार के दो टुकड़े हो गये थे। उस दिन दोनों का

छोटे-छोटे कारण

पारिवारिक अनुष्ठान था। उस अनुष्ठान में पण्डित से घर पर कथा सुनी जाती है और उन्हें सीधा और दक्षिणा दी जाती है। संयोग से दोनों ने उस दिन अपने यहाँ पाठ करने के लिए पण्डित को निमंत्रण दिया था। तमाशा यह कि कथा का शुभ मुहूर्त भी एक ही समय पड़ता था। मैंने देखा कि इस बात को लेकर गाँवभर में एक तूफान-सा मचा हुआ है कि पंडित किसके यहाँ कथा बाँचे।

इसी तरह नाबदान किधर से जायगा, छप्पर का पानी कहाँ गिरेगा, लोग कण्डा कहाँ पाथेंगे, आदि छोटी-छोटी बातों से बड़े-बड़े झगड़े हो जाते हैं।

प्रायः ऐसा भी होता है कि बँटवारा भाई-भाई में हो जाने पर भी जमींदार के खाते में उनकी जमीन अलग-अलग नहीं दर्ज होती। जमींदार जान-बूझकर अपने खाते में इस तरह की धाँधली बनाये रखता है, जिससे वह किसानों की लड़ाई में अधिक-से-अधिक फायदा उठा सके।

छोटी बस्तियों में कोई स्त्री विधवा होकर नैहर चली जाय, तो उसका बच्चा कहाँ रहेगा, इस पर भी झगड़े खड़े हो जाते हैं।

उन झगड़ों के सिलसिले में हमें एक खास बात देखने में आयी कि

ऊँची जातियों में अधिक झगड़े

ज्यादातर झगड़े ब्राह्मण क्षत्रियों में होते हैं। क्योंकि ये लोग चाहे जितने गरीब हो जायँ, खेती का काम अपने हाथ से नहीं करते और बेकार बैठे रहते

हैं। बेकार दिमाग शैतान का घर होता है। इसलिए हम इनके तात्कालिक झगड़ों का फैसला तो करते थे, पर इस बात को बराबर सोचते रहते थे कि जब तक हम उच्च श्रेणी की बेकारी की समस्या हल नहीं कर सकेंगे, तब तक गाँव में व्यवस्थित समाज कायम नहीं हो सकेगा।

एक दफा मैं एक सूत-केन्द्र में गया हुआ था। इस गाँव में सब क्षत्रिय रहते थे। आश्रम के असर से सब गाँव में चरखा चलने लगा था और उनके घरों का पर्दा भी हट गया था। उस दिन गाँव की बहनों से मैंने कहा—"बहनो, इस बार मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम लोग अपने घर और अपने बच्चों को कितना साफ रखती हो। दूसरे दिन मैं खूब सुबह उठकर उन लोगों का घर देखने गया। प्रत्येक घर के प्रत्येक हिस्से को देखने में पूरे दो दिन लग गये। सफाई तो उनके घरों की अच्छी थी, लेकिन एक बात से मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने देखा कि ये लोग चाहे जितने गरीब हों, आटा के लिए स्त्रियाँ चक्की नहीं चलातीं। पूछने पर मालूम हुआ कि इनके परिवार में चक्की की शपथ है।

खुराफात की जड़ बेकारी

इस तरह के बहुत से ऐसे काम हैं, जिसके लिए इनकी बिरादरी या परिवार में शपथ है। इनके घर के लोग कलकत्ता और बम्बई जाकर चमड़ा गोदाम के दरबान का काम करेंगे, लेकिन घर पर हल, चक्की तथा चर्खा चलाने से इनकी इज्जत और धर्म का नाश हो जाता है। इन सब करतूतों से गाँव के उच्च वंशों के लोग बेकार बैठे बैठे दिन-रात खुराफात की बातें सोचा करते हैं। ग्रामीण समस्याओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य उच्च वर्णों में बेकारी की समस्या एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दखल किये बैठी है और इसे हल किये बिना ग्रामोत्थान की गाड़ी का आगे बढ़ना मुश्किल है। ● ● ●

पंचायत का संघटन

: ३८ :

२५-१०-'४१

अगस्त सन् १९३७ में कांग्रेस ने मन्त्रिपद स्वीकार किया। इससे शुरू-शुरू में पुलिस और जमींदारों के आदमी कुछ घबड़ा उठे। अतः जमींदारों की ओर से किसानों पर अत्याचार कुछ कम हो गया। हमारा काम भी कुछ हल्का-सा हो गया। लेकिन दूसरी ओर से काम बढ़ गया। गाँव के आपसी झगड़े अब अधिक संख्या में हमारे पास आने लगे, क्योंकि ग्रामीण जनता अब कांग्रेसी लोगों को विशेष अपनेपन की दृष्टि से देखने लगी। उस दिशा में काम इतना अधिक बढ़ गया कि उसे ठीक ढङ्ग से व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ गयी।

शुरू में हमने अपना कार्यक्षेत्र करीब दो सौ गाँवों में परिमित कर दिया। फिर देहातों में स्थानीय पंचायतों का संघटन करना शुरू किया।

पंचायतों की स्थापना

पहले-पहल हमने उन गाँवों में पंचायत कायम की, जिनमें आपस के झगड़े नहीं थे। ये पंचायतें लोगों की राय से कायम हुईं। फिर धीरे-धीरे सभी गाँवों में किसी-न-किसी रूप में पंचायत बन गयी। पंचायतों के बनने से हमारे काम में थोड़ी आसानी जरूर हुई, क्योंकि अब किसी किस्म का मामला आने पर हम उसे सरपंच के पास भेज देते थे और जहाँ तक सम्भव होता था, स्थानीय पंचायतों में ही मामला तय करने की कोशिश करते थे। पंचायत को खुद अपने आप पर भरोसा नहीं था। यह स्वाभाविक भी था। सदियों से गाँवों में पंचायतों का रिवाज टूट गया, इसलिए व्यवस्था करने की आदत और योग्यता लोगों में नहीं रह गयी और न जनता में ही बिना कानून और पुलिस के दबाव के किसीको मानने की आदत रह गयी। गाँवों में पंचायत का संस्कार नहीं रहा। सरकारी पंचायतों का विवरण तो मैं तुम्हें लिख ही चुका हूँ। उनकी मार्फत ग्रामीण समाज का कुछ भला करने की चेष्टा का मतलब भक्षक द्वारा रक्षा का प्रबन्ध करना था। देहात में यदि वस्तुतः पंचायती व्यवस्था लानी है, तो रचना-

त्मक कार्यक्रम की मार्फत कुछ ऐसे लोगों को पैदा करना पड़ेगा, जिन्हें लोग श्रद्धापूर्वक मानें। आज सही पंचायत का संघटन करना कठिन है। प्रत्येक गाँव में एक-दो आदमी ऐसे रहते हैं, जो पुलिस और जमींदार के आदमी हैं। अधिकारी और पैसा साथ होने के कारण वे गाँववालों को सताते और लूटते हैं। साम्राज्यशाही के शोषण और भ्रष्टाचार की असली जड़ यही लोग हैं। गाँव के सब लोग इनके खिलाफ रहते हैं और इनसे डरते हैं। फिर भी यदि किसी गाँव में चुनने के लिए जाओ, तो लोगों को इनके अलावा दूसरों को चुनने की हिम्मत नहीं पड़ती है। गाँववालों के खिलाफ होते हुए भी यही लोग पंच बन बैठते हैं। इसलिए हमें बड़ी मेहनत और सावधानी से पंचायत बनानी पड़ी। कहीं-कहीं तो परिस्थिति के कारण ऐसे ही खुराफाती लोगों को सरपंच रखना पड़ा, क्योंकि उन्हें यदि हम बाहर रखते, तो वे और अधिक नुकसान पहुँचाते। इस तरह की पंचायतों के लिए यह जरूरी हो जाता था कि हम उन पर कड़ी निगाह रखते। प्रत्येक ग्राम-सेवक को पंचायत बनाते समय इस खास पहलू को सामने रखना जरूरी है। कोशिश हमेशा यही करनी चाहिए कि साधारण लोगों में से ही पंच बनें और उनकी संघटित ताकत गाँव के पुराने अत्याचारी लोगों को दबा सके और धीरे-धीरे उनका दबदबा कम हो जाय।

पंचायतों का संघटन करते समय देहात की परिस्थिति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू देखने को मिला। प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में कुछ ही लोग होते हैं, जो विशेष बुद्धिमान् और मौलिक तथा रचनात्मक योग्यता के होते हैं। ऐसे लोग स्थानीय आबादी के स्वाभाविक नेता होते हैं और बाकी इनके पीछे चलते हैं। आज हमारे देहात की हालत ऐसी चौपट हो गयी है कि इस किस्म का नेतृत्व करने योग्य व्यक्तियों के लिए बुद्धि और योग्यता चलाने का साधन नहीं रह गया है। पुश्तैनी तरीके से खेती करने के सिवा कोई उद्योग, जिसमें मौलिक बुद्धि की जरूरत पड़ती हो, गाँव में नहीं रह गया। इसलिए गाँव की वह आबादी, जो संसार में कुछ कर

सही नेतृत्व की कमी

सकती है, गाँव से बाहर कलकत्ता, बम्बई आदि औद्योगिक केन्द्रों में चली जाती है, क्योंकि उन्हीं स्थानों में उनकी बुद्धि और योग्यता के ग्राहक मिलते हैं। नतीजा यह होता है कि गाँव में किसी प्रकार की व्यवस्था या आन्दोलन करना चाहें, तो सही नेतृत्व के अभाव से असफल होता रहता है। बाहर के साधन से यह काम चल नहीं सकता है। इसलिए ग्राम-सेवक के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्यक्रम ढूँढ़ निकाले, जिसमें गाँव के कुशल, बुद्धिमान् और योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यता तथा बुद्धि के विकास की सुविधा हो और वे गाँव में ही रुक जायँ।

मैं जब गाँव की आर्थिक कठिनाई के साथ-साथ बौद्धिक हीनता को देखता था, तो कभी-कभी निराश सा हो जाता था, लेकिन निराश होने से काम कहाँ बनता है? इसलिए हम लोग अपने कार्यक्रम में लगे रहते हुए भी इस समस्या के समाधान की खोज में रहे। पंचायत की स्थापना, उसके द्वारा गाँव के झगड़ों का निबटारा करवाना और कुछ रचनात्मक कार्य में दिलचस्पी पैदा करना इस ओर एक कदम था। इससे ग्रामवासियों की बुद्धि का विकास कुछ जरूर होता है। लेकिन खास लियाकत रखनेवाले ग्राम के लोगों को गाँव में तभी रोक सकेंगे, जब उनकी बुद्धि के अनुपात से आर्थिक आमदनी का कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे। साथ-साथ गाँवों में ऐसे कार्य की स्थापना हो सकेगी, जिसे करने में ग्रामवासियों के अनुभव में विचित्रता होगी और उनकी मौलिक चिन्तना को अवसर मिलेगा।

गाँव में ही नेता पैदा करने होंगे

बुनियादी तालीम की व्याख्या में पूना में तुमने इस बात का जिक्र किया था कि बच्चों में नेतृत्व की योग्यता पैदा करनी है। यह ठीक है, लेकिन सामूहिक रूप में बच्चों का आन्दोलन चलानेवाला भी तो गाँव में होना चाहिए। मेरा तो अनुभव यह है कि वे गाँव में होते हैं। हमारा काम उन्हें खोज निकालना है और उन्हें अपने स्थान पर कायम रखना है।

●●●

५-११-'४१

कई दिन हुए, मैं पत्र न लिख सका। इधर मौसम बदलने के कारण कई रोज से खाँसी, जुकाम, बुखार हो गया था। अब ठीक है।

आजकल जेल में खूब हलचल मची हुई है। छूटने की खबर जब से आने लगी है, तब से लोगों के दिमाग में खलबली पड़ गयी है। आज तो और भी तूफान है। क्योंकि आज छह-सात व्यक्ति बिना शर्त छोड़ दिये गये। लोग यह उम्मीद लगाये बैठे हैं कि १२ तारीख को केन्द्रीय असेम्बली में राजबन्दियों की मुक्ति का प्रस्ताव पेश होते ही सरकार सबको छोड़ देगी।

कांग्रेस के मन्त्रिपद ग्रहण करने से सरकार का रुख ग्राम-संघटन की ओर अधिक होना स्वाभाविक ही था। मैंने भी सोचा कि यह अवसर है, जिस समय मैं आठ-नौ साल से सोची हुई योजनाओं का प्रत्यक्ष प्रयोग कर सकूँगा।

पंचायत के संघटन के सिलसिले में हमने देखा था कि गाँव के जितने कुशल, योग्य और बुद्धिमान् व्यक्ति होते हैं, वे सब गाँव में अपने लायक काम न होने की वजह से गाँव छोड़कर बाहर चले जाते हैं। इसलिए हमारे सारे देहात में स्वाभाविक नेतृत्व का अकाल पड़ गया है। और यह तो सर्वविदित है कि इस नेतृत्व के अभाव में गाँव का कोई भी आन्दोलन ग्रामवासियों द्वारा स्वयं चलाना असम्भव हो जाता है। तुम तो अच्छी तरह समझती हो कि लोग बाहर-बाहर से जाकर व्यापक रूप से ग्राम-आन्दोलन नहीं चला सकते। इसलिए हमारे सामने दो समस्याएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक है मध्यम-वर्ग की बेकारी, दूसरी है स्थानीय नेतृत्व का विकास। इन दोनों समस्याओं को हल करने के लिए एक ही तरीका

स्वाभाविक नेतृत्व का अकाल

सूझता था। वह था ग्रामोद्योग का प्रसार। ग्रामोद्योग में कुशल और योग्य नौजवानों के लिए बुद्धि-विकास करने का बहुत बड़ा क्षेत्र है।

हमने सोचा कि यदि पढ़े-लिखे और अच्छी भावनावाले नौजवानों को अपने यहाँ किसी-न-किसी ग्रामोद्योग का काम सिखाकर उनके घर पर उद्योग-केन्द्र खुलवा दें, तो गाँव की मध्यम श्रेणी की बेकारी की समस्या हल हो जायगी और इसके जरिये गाँव की बुद्धिजीवी श्रेणी को गाँव में ही रोककर ग्राम-आन्दोलन के लिए स्वाभाविक नेतृत्व का विकास किया जा सकेगा। उससे गाँव के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संगठन का काम सहूलियत से हो सकेगा। यह सोचकर मैंने एक योजना बनाकर कांग्रेसी सरकार के सामने पेश की। योजना की रूपरेखा ऐसी थी कि गाँव के बीच आश्रम में एक ग्रामोद्योग-विद्यालय की स्थापना की जाय, जिसमें देहात के पढ़े-लिखे नौजवानों को नीचे लिखी दस्तकारियों की व्यावहारिक और व्यापारिक शिक्षा दी जाय। इसके साथ ही साथ उन्हें ग्राम-आन्दोलन का सैद्धान्तिक परिचय कराकर ग्राम-सेवा की भावना पैदा की जाय :

एक योजना

(१) कताई और बुनाई। (२) कागज बनाना। (३) गाँव के साधनों से साबुन बनाना। (४) लकड़ी और लोहे का काम। (५) चमड़ा पकाना, सरेस बनाना, मरे हुए जानवरों की हड्डी और मांस से खाद बनाना। (६) बाँस-बेंत आदि गाँव के साधनों से किस्म-किस्म के सामान बनाना। (७) चर्म-कला (चमड़े का सामान बनाना)।

मैंने यह माना कि यदि दो साल हम आश्रम-जीवन के साथ साथ ऊपर लिखी हुई कलाओं की शिक्षा दे सकेंगे, तो हम उन्हें पूरा-पूरा ग्राम-सेवक बना सकेंगे। योजना में मैंने यह भी लिखा कि विद्यार्थियों को ठीक-ठीक व्यापारिक शिक्षा देने के लिए यह जरूरी है कि आश्रम में प्रत्येक उद्योग के लिए एक कारखाना रखा जाय, जिसमें ये चीजें बनें और बिकें।

जो विद्यार्थी विद्यालय में सीख लें, उन्हें घर पर काम शुरू करने के

लिए सरकार से कुछ सहायता देने की भी मैंने प्रार्थना की। मेरी समझ में ग्रामोत्थान-कार्य का सबसे उत्तम जरिया इसी किस्म के ग्रामोद्योग-केन्द्र स्थापित करके उसी केन्द्र को हर प्रकार के कार्यक्रम का मध्य-बिन्दु बनाना है। जब विद्यालय के सीखे हुए नौजवान स्वतन्त्र रूप से घर बैठे उद्योग चलाकर आमदनी करने लगेंगे, तो हमारे सिद्धान्त के अनुसार ग्राम-सेवा के काम में भी उन्हें उत्साह और दिलचस्पी रहेगी। केन्द्रीय आश्रम को उनके माल की खपत की व्यवस्था करनी होगी और ग्रामोत्थान-कार्य का मार्ग-प्रदर्शन करना होगा। इस प्रकार योजना बनाकर खर्च के लिए मैंने प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेज दिया।

ठीक इन्हीं दिनों सरकारी महकमों के लिए कांग्रेस मंत्रिमंडल के निर्देशानुसार ग्रामोद्योग-कार्य कैसे चलाया जाय, इसका विचार किया जा रहा था और उसके लिए कार्यकर्ता तैयार करने के लिए शिक्षा-केन्द्र खोलने की भी बात सोची जा रही थी। लेकिन ग्रामीण वायुमण्डल में इस किस्म की शिक्षा देने का क्या जरिया हो, यह बात अधिकारियों की समझ में नहीं आ रही थी। उनके सामने हमारी इस योजना ने अन्धे की लकड़ी जैसा काम किया। हमें बुलाकर इस विषय पर उन्होंने हमसे विशेष रूप से विचार-विनिमय किया। इसके बाद संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने अपने महकमों के लिए कार्यकर्ता-शिक्षण की जरूरत को पूरा करते हुए हमारी योजना में कुछ हेर-फेर करके ग्रामोद्योग-विद्यालय खोलने का आवश्यक धन मंजूर कर दिया। उन्होंने अपनी योजना में ७५ विद्यार्थियों के भोजन का खर्च भी मंजूर किया।

कई साल से सोची हुई कल्पना को व्यावहारिक रूप दे सकने की सम्भावना से मुझे बेहद खुशी हुई। हमारे साथी भी अत्यधिक उत्साहित हुए और हम लोग चारों ओर से अपनी शक्ति बटोरकर विद्यालय को ठीक ढंग से स्थापित करने में लग गये। विद्यालय का उद्घाटन १८ नवम्बर सन् १९३८ को हो गया।

मैंने दो साल की शिक्षा की कल्पना की थी। शिक्षा का उद्देश्य था

देहातों में ग्रामोद्योग की स्थापना करके ग्राम-संघटन का गढ़ कायम करना। लेकिन शुरू में हम इस ओर कदम नहीं बढ़ा सके। प्रान्तीय सरकार को जल्दी से विभिन्न जिलों के देहात में उद्योग-धन्धा बढ़ाना था, इसलिए शुरू में उन्होंने अपने लिए कार्यकर्ता तैयार कर देने की माँग की और प्रान्तभर से नौजवानों को शिक्षा के लिए हमारे यहाँ भेजा। इस प्रकार पहले दो साल सरकारी महकमों के लिए कार्यकर्ता भेजने में हमारी शक्ति लग गयी। साथ ही साथ हमें आश्रम के लिए भी खादी-सेवक तैयार करके देने पड़े। इस तरह हमें दो साल तक 'वस्त्र-स्वावलम्बन' और 'ग्राम-संघटन' के काम को गौण रखते हुए विशेष रूप से उद्योग-विद्यालय का ही संघटन करना पड़ा। ग्रामसेवा और ग्रामोत्थान की दिशा में स्थायी कार्यक्रम की ओर हमारा यह पहला कदम था।

उद्योग विद्यालय

● ● ●

बेकारी और चर्खा

: ४० :

६-११-'४१

पिछले पत्र में मैंने ग्रामोद्योग-विद्यालय शुरू करने की बात लिखी थी। उसे कायम करने में हमारी सारी शक्ति लगने के कारण चर्खे के काम में बड़ी ढिलाई आ गयी थी। यह ढिलाई शुरू तो उसी समय हो गयी थी, जब चुनाव के बाद गाँववालों पर आनेवाली खास तकलीफों को दूर करने में हमें लग जाना पड़ा। धीरे-धीरे चर्खे की गति मन्द होती गयी। विद्यालय का काम जब कुछ ढर्रे पर आ गया, तो हमने फिर से अपना ध्यान चर्खा-कार्य की ओर लगाया। इस काम के लिए हम देहात में चर्खा-विद्यालय खोलने लगे। यह विद्यालय एक गाँव में दो महीनों के लिए होता था और जब उस गाँव के लोग सीख जाते थे, तब हम दूसरे गाँव चले जाते थे।

पिछले एक पत्र में मैंने लिखा था कि देहात के तमाम झगड़ों का कारण उच्च श्रेणी के लोगों की बेकारी है। गाँव की भयंकर बेकारी की बाबत कौन नहीं जानता। सभी अर्थशास्त्री भारत के गाँववालों की बेकारी का हिसाब लगाते समय प्रायः खेती के मौसम का हिसाब जोड़कर आँकड़े बना दिया करते हैं। हमें बताया जाता है कि हिन्दुस्तान में देहात के लोगों की बेकारी कहीं वर्ष में ९ महीना, कहीं ६ महीना और कहीं ३ महीना है। हम लोग आम तौर से इस बेकारी की दलील देकर लोगों को समझाना चाहते हैं कि चर्खा ही देहात की बेकारी का समाधान है और इसकी पुष्टि में चर्खा-संघ के अंक के जरिये यह बताते हैं कि हम कम-से-कम तीन-साढ़े तीन लाख बेकारों को काम में लगा रहे हैं।

गाँवों की बेकारी

आम तौर से बेकारी का जो अनुपात बताया जाता है, वह बड़ा भयंकर है। लेकिन मैं समझता हूँ कि वास्तविक परिस्थिति इससे भी

अधिक भयंकर है। आबादी का एक बहुत बड़ा भाग अपने को 'भलमनई' कहता है और खेत में मेहनत नहीं करता। उनके लिए तो साल में बारहो महीना बेकारी ही रहती है। इनके अलावा जिस श्रेणी के लोग काम करते भी हैं, उनके लिए भी केवल खेती के मौसम के लिहाज से बेकारी का औसत लगाने से ठीक नहीं पड़ेगा।

तुम्हें मालूम है कि देहात की आबादी दिन-दिन बढ़ती जा रही है और खेत दिन-दिन छोटे-छोटे हिस्सों में बँटते चले जा रहे हैं। नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक परिवार के लिए इतना खेत नहीं रह गया है कि वे सबके सब उस खेत में काम पा सकें। इस प्रकार प्रत्येक परिवार में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनका नाम १२ महीने की बेकारी की लिस्ट में दर्ज किया जा सकता है। खेत इतना ही है कि तीन ही आदमी के काम करने के लिए काफी है, तो भी पाँचों उसमें लगे ही रहते हैं। तुम उनमें से किसीको अपने यहाँ नौकरी दे दो, तो देखोगी कि परिवार के बाकी लोग खेती का काम खूब आसानी से पूरा कर लेते हैं। वैसे यदि तुम इस परिवार में जाकर पूछोगी, तो पाँचों आदमी कहेंगे कि उनके पास इतना काम है कि उन्हें बिल्कुल फुरसत नहीं है। मैंने जहाँ तक देखा है, यदि इन दो किस्म के मनुष्यों की बेकारी जोड़ी जाय, तो देहात के बालिग पुरुष की आबादी का कम-से-कम १/२ हिस्सा सम्पूर्ण बेकारी में चला जायगा। बेकारी का जो अंक आम तौर पर कहा या लिखा जाता है, उसके साथ यदि इस बेकारी का अंक भी जोड़ दिया जाय, तो परिस्थिति कल्पनातीत उग्र हो जाती है। हम लोग चर्खा द्वारा बेकारी को हल करने की जो बात कहा करते हैं, उसे भी जरा नजदीक से देखें। हम जब बेकारी की बात करते हैं, तब हमारे

चर्खे के समाधान पर विचार

सामने किसानों की ही बेकारी रहती है। लेकिन जब हम समस्या की बात करते हैं, तो वह केवल पुरुषों की ही समस्या होती है। जब हम चर्खे से समाधान करने के लिए निकलते हैं, तो जिन बेकारों की हम बात करते हैं, उन्हें छूते तक नहीं और हमारे तीन लाख कातनेवालों में ऊपर बताये हुए बेकारों में

एक फी सदी भी नहीं होते। चर्खा तो केवल स्त्रियाँ चलाती हैं और अगर तुम गहराई से देखो, तो वे उतनी बेकार नहीं रहती हैं। चर्खे के द्वारा हम देहाती जनता के लिए बहुत बड़ी आर्थिक समस्या का हल जरूर करते हैं, लेकिन गाँव के सहायक धन्धे के रूप में उनकी बेकारी दूर नहीं करते। अतः यदि हम चर्खे को सच्चे प्रकार का सहायक धन्धा बनाना चाहते हैं, तो हमें पुरुषों से भी चर्खा चलवाना होगा। इससे सिर्फ आर्थिक लाभ होगा, यह बात नहीं; बल्कि गाँव के खाली आदमियों के धन्धे में लगे रहने के कारण गाँव की सारी खुराफात खतम हो जायगी और समाज में एक शान्तिपूर्ण व्यवस्था कायम होगी।

हम लोग गाँव में जब चर्खा-स्कूल चलाते थे, तो इस बात की कोशिश करते थे कि गाँव के खाली नौजवान भी चर्खा सीखें और उसे चलायें। हम इसमें ज्यादा सफल नहीं हो सके। ग्रामीण बेकारी को हल करने के लिए पुरुषों का चर्खा चलाना नितान्त आवश्यक है, इस बात पर हम उतना जोर उस समय नहीं देते थे, जितना आज देते हैं। इसलिए जब गाँव के नौजवानों ने हमारे स्कूल में कातना सीखकर यह काम जारी नहीं रखा, तो उस पर हम लोगों ने विशेष रूप से जोर नहीं दिया और ग्रामोद्योग की मार्फत ही हम इस समस्या को हल करने का विचार करते रहे। बाद को जब हम इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार करने लगे, तो ऐसा लगा कि हम चाहे जितना ग्रामोद्योग फैलायें, उससे गाँव की वर्तमान परिस्थिति नहीं सुधरेगी। खाली वक्त के लिए चर्खा ही उपयोगी हो सकता है। लोग कहते हैं कि इसकी मजदूरी पुरुषों को आकर्षित करनेवाली नहीं है। मैंने देखा है कि गाँव के पुरुष कभी-कभी खाली बैठे रस्सी बटने जैसे बहुत से काम करते हैं, जिसकी मजदूरी चर्खे से ज्यादा नहीं पड़ती है। इसलिए पुरुषों का चर्खा न चलाने का कारण कम मजदूरी नहीं है। बल्कि परम्परा से चर्खा चलाना स्त्रियों का काम होने के कारण पुरुषों में यह संस्कार बैठ गया है कि यह स्त्रियों का ही काम है, पुरुषों का नहीं

चर्खे की उपयोगिता

और तुम्हें मालूम है कि लोग संस्कार के विरुद्ध जल्दी कोई काम नहीं करना चाहते। इसलिए वे इस काम को उठाते नहीं। लेकिन मैं समझता हूँ कि कोशिश करने से पुरुष भी चर्खे को अपना लेंगे। चर्खा-विद्यालय खोलकर हमें दो लाभ हुए :

१. काफी देहाती परिवारों के साथ हमारा सम्बन्ध हो गया। और इससे साधारण ग्राम-संघटन कार्य में हमें बहुत मदद मिली।

२. चर्खे की संख्या काफी बढ़ गयी और सूत भी काफी तरक्की कर गया।

गाँव के लोगों में सम्बन्ध बढ़ने से और लोगों में उत्साह पैदा होने से हम लोगों ने जो गाँव की पंचायतें कायम की थीं, वे भी जाग्रत होने लगीं।

मैं स्वस्थ हूँ। आशा है, तुम लोग भी स्वस्थ होगे। ●●●

रात्रि-पाठशालाओं का संघटन

: ४१ :

९-११-'४१

तीन दिन कोई पत्र न लिख सका। मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि हम लोगों ने फिर से चर्खे के प्रचार में ध्यान लगाना शुरू किया और धीरे-धीरे आसपास के करीब सभी गाँवों में कुछ-कुछ चर्खे चलवा दिये। चर्खा चलाने के सिलसिले में हमने देखा कि पंचायत द्वारा हमारे साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वे हमारे काम में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। इससे हमें ज्यादा उत्साह मिला और हम देहात में अन्य रचनात्मक कार्यक्रम चालू करने की बात सोचने लगे।

साथ-साथ उद्योग और शिक्षा की आवश्यकता

शुरू में जब हम रणीवाँ आये थे, तब किस प्रकार रात्रि-पाठशाला द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम शुरू किया, यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ। उस काम को हम लोगों ने गौण रूप से बराबर जारी रखा था। इधर जब किसानों से विस्तृत रूप में घनिष्ठता होने लगी, तब से हम शिक्षा के अभाव में उनकी बेवसी की हालत को अधिक महसूस करने लगे। हमने देख लिया कि केवल ग्रामोद्योग से देहाती जीवन नहीं सुधर सकता। ग्राम-सुधार के लिए उद्योग और शिक्षण, दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। उद्योग-विद्यालय की स्थापना के साथ-साथ गाँव की शिक्षा के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ, लेकिन प्रश्न यह था कि हम शुरू कैसे करें ?

शिक्षा-प्रसार करने के लिए तो पर्याप्त धन की आवश्यकता है। बाहर से धन लाकर एकाध पाठशाला चलायी जा सकती है। लेकिन व्यापक रूप से काम कैसे चले ? अतः हम लोगों ने यह काम पंचायतों के द्वारा ही

चलाने का निश्चय किया। इससे दो लाभ थे। एक तो यह कि स्कूल की व्यवस्था करने में उनके लिए स्थायी कार्यक्रम हो जाता है। इससे उनमें धीरे-धीरे व्यवस्था-शक्ति बढ़ेगी और ग्रामीण समस्याओं के प्रति दिलचस्पी होगी। सम्मिलित रूप से कार्य करने का पुराना संस्कार जगेगा। दूसरा लाभ यह था कि यदि हम शिक्षा का काम स्थानीय साधन और व्यवस्था द्वारा चला सकें, तो गाँव में स्वावलम्बी व्यवस्था का सूत्रपात हो जायगा। गाँव-वालों के सामने जब हमने यह प्रस्ताव पेश किया, तो वे सहर्ष इस ओर कदम उठाने के लिए तैयार हो गये। लेकिन वे विद्यालय का तुरत सारा खर्चा सँभालने में असमर्थ थे। हम लोगों ने उनसे बीच का समझौता कर लिया।

गाँव के साधनों से शिक्षा

गाँव के निवासी दिन में स्कूल में नहीं पढ़ सकते। दिन में सब लोग या तो मवेशी चराते हैं या घास छीलते हैं या खेती में काम करते हैं। इसलिए गाँव में व्यापक रूप से रात्रि-पाठशाला ही चल सकती है। अतः हम लोगों ने गाँववालों के सामने यह प्रस्ताव रखा :

१. गाँव में जो लोग कुछ पढ़े-लिखे हैं और घर में दिन में गृहस्थी का काम करते हैं, वे रात में फुरसत के समय रात्रि-पाठशाला में पढ़ा दें।

२. विद्यार्थियों के पढ़ने का मकान, बैठने का आसन और लालटेन तथा उसके तेल का प्रबन्ध पञ्चायत करे।

३. शिक्षक के कुछ पारितोषिक का प्रबन्ध आश्रम कर देगा। शुरू में हम लोगों ने शिक्षक का पारितोषिक २) मासिक रखा था, फिर शिक्षा-विभाग से कुछ सहायता मिल जाने के कारण दो की जगह तीन रुपया कर दिया था। हमने यह सोचा था कि कुछ साल चलाने के बाद पंचायत का संगठन अधिक मजबूत होने पर विद्यालय की पूरी जिम्मेदारी भी गाँव के लोग अपने ऊपर ले सकेंगे और आश्रम अपना साधन दूसरे क्षेत्र में विद्यालयों की संख्या बढ़ाने में लगा सकेगा।

इस प्रकार हम आश्रम के चारों तरफ २५ रात्रि-पाठशालाएँ

खोल सके। पाठशालाओं की स्थापना से शिक्षा का प्रसार तो होता रहा, साथ-साथ लड़कों में संध्या समय का तमाखू पीना, एक-दूसरे को गाली देना भी कम होने लगा। गाली देने की कुटेव सुधारना भी ग्राम-सेवक का एक विशेष काम है। हम लोग जब गाँव में जाते थे, तो लड़कों से पूछा भी करते थे कि किसने कितनी गाली दी। शिक्षकों से भी पूछते थे। इस ओर विशेष ध्यान देने से कुछ फायदा ही रहा। ग्राम-सेवक यदि इस प्रकार गाली के खिलाफ प्रचार करते रहें, तो इस दिशा में काफी सुधार हो सकता है। मैं जब रात को पाठशालाओं में जाता था, तो प्रत्येक बच्चे से पूछता कि वह दिन में क्या काम करता है। मुझे मालूम हुआ कि उनमें ९० फी सदी मवेशी चराते हैं। जिससे पूछूँ—"तू दिनभर काव करते हो रे?" जवाब मिलता—"गोरू चराइत है।" पूछता हूँ—"कय ठो गोरू?" तो जवाब मिलता है—"एक ठो या दुइ ठो।" एक ठो या दुइ ठो मवेशी चराने के लिए एक-एक बच्चा! इस प्रकार बच्चों का समय कितना चौपट होता है, इसका हिसाब कौन रखता है? एक या दो आदमी गाँवभर के मवेशी चराने का काम कर लें, तो गाँव के सब बच्चे शिक्षा के लिए खाली हो जायँ। लेकिन इन बातों की व्यवस्था ही टूट गयी है। देखने में यह समस्या छोटी है, लेकिन राष्ट्र को कुछ करना है, तो इस समस्या को महत्त्व देना ही है। ग्राम-सेवक को पंचायत की मार्फत इसे भी हल करना चाहिए।

पाठशालाओं का प्रभाव

● ● ●

प्रौढ़-शिक्षा का प्रयोग

: ४२ :

१२-११-'४१

गाँव में पाठशाला खुल जाने से ग्रामीण-जीवन में एक नयी जाग्रति पैदा होने लगी। स्कूल के विद्यार्थी रात्रि को पढ़ते थे; राष्ट्रीय गान सीखते थे और कभी-कभी राष्ट्रीय आन्दोलन की बातें भी करते थे। इससे गाँव में शान्ति और चहल-पहल बनी रहती थी। जो लोग स्कूल में पढ़ते थे, उनमें प्रतिदिन एक साथ उठने-बैठने के कारण मित्रता और सद्भावना पैदा होती दिखाई देती थी। इन लोगों ने दिन में भी फुरसत पाने पर तरह-तरह के खेल-कूद शुरू कर दिये। इस प्रकार रात्रि-पाठशाला खोलने से अक्षर-ज्ञान के अलावा गाँव में कई प्रकार का जीवन बनने लगा।

हमारी रात्रि-पाठशालाओं में दो प्रकार के विभाग थे। एक बच्चों का, दूसरा प्रौढ़-विभाग। बच्चों को तो हम सीधे तरीके का अक्षर-ज्ञान कराके आगे बढ़ते थे। लेकिन हम लोगों ने देखा कि बच्चों के साथ यदि बड़ी उम्र के लोगों को भी पढ़ाते हैं, तो एक तो उसमें बहुत देरी होती है और फिर प्रौढ़ लोग बच्चों के साथ-साथ चलने में ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते हैं। इससे हमारे सामने एक नयी समस्या खड़ी हो गयी कि हम प्रौढ़ों को किस पद्धति से शिक्षा दें। इन्हीं दिनों कांग्रेसी सरकार ने शिक्षा-प्रसार-विभाग खोलकर प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में जोरों से कार्य आरम्भ कर दिया। सरकार ने शिक्षा-विशारदों के परामर्श से कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करायीं, जिनसे बड़ी उम्र के लोगों को जल्दी पढ़ाया जा सके। मैंने जैसे ही सुना, वैसे ही मैं लखनऊ जाकर शिक्षा-प्रसार अफसर से मिला और इस योजना की चर्चा की। मैंने विभाग से खर्चे का भी कुछ प्रबन्ध कर लिया। शिक्षा-प्रसार अफसर ने अपने विभाग की ओर से विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए पुस्तकें भी मुफ्त में दे दीं। बाद में 'शान्तिपुर प्रौढ़-शिक्षा-योजना'

प्रौढ़-शिक्षा का आरम्भ

का चार्ट और साहित्य मैंने देखा। इस योजना के निर्माता श्री मांडे साहब गत बीस वर्षों से प्रौढ़-शिक्षा-पद्धति का प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने यूरोप और अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों में घूमकर प्रौढ़-शिक्षा के सम्बन्ध में अध्ययन भी किया था। कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से उन्हें हर तरह की सहूलियत मिली और उन्होंने गोरखपुर में प्रौढ़-शिक्षा के शिक्षकों के लिए विद्यालय खोल दिया। जब मुझे विद्यालय खुलने का समाचार मालूम हुआ, तो मैंने आश्रम के भाई धनराजपुरी (जो कि देहात में रात्रि-पाठशालाओं का संघटन कर रहे थे) को गोरखपुर माण्डे साहब के विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए भेज दिया। वे तीन माह में वहाँ की सब पद्धतियों की जानकारी लेकर लौट आये।

भाई धनराज ने प्रौढ़-शिक्षण के साथ स्काउटिंग की शिक्षा भी ले ली। उनके स्काउटिंग के ज्ञान का हम लोगों ने लाभ उठाने की कोशिश की। सबसे पहले हम रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों को ही शिक्षा देने में लग गये। वे रात्रि को पाठशाला में पढ़ाते थे, और दिन को १० बजे से ४ बजे तक आश्रम में आकर प्रौढ़-शिक्षण और स्काउटिंग की शिक्षा लेने लगे। उन्हें हम माण्डे साहब की पद्धति के अलावा गाँव की समस्याओं के विषय पर भी शिक्षा देते रहे। स्काउटिंग और देहाती गाना भी सिखाते थे। हमने उन्हें कातने-धुनने की भी शिक्षा दे दी थी और स्वावलम्बी बनने के लिए सप्ताह में २००० गज सूत कातना भी अनिवार्य कर दिया था।

स्काउटिंग का आरम्भ

इस प्रकार रात्रि-पाठशालाओं को हम धीरे-धीरे अधिक संगठित और व्यवस्थित करने लगे और इस केन्द्र की मार्फत गाँव की दूसरी समस्याओं को हल करने की योजनाएँ बनाने लगे। इस दिशा में हमें कुछ सफलता भी प्राप्त होने लगी।

रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों ने जब प्रौढ़-शिक्षा के तरीके समझ लिये, तब विविध प्रकार की ग्राम-समस्याओं के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण

व्यापक बना तथा उनका बौद्धिक विकास भी हुआ। तब वे पाठशालाओं को अधिक योग्यता और उत्साह के साथ चलाने लगे। फिर भी हमारी दृष्टि में उनमें बहुत कुछ कमी रह गयी थी। खासकर व्यवस्थित जीवन-पालन करने के प्रति उनको हमने बाद में भी उदासीन ही पाया। जब तक शिक्षक खुद इन बातों का पालन नहीं करेगा, तब तक वह पाठशाला के विद्यार्थियों को क्या बनायेगा ? हम लोग भी तीन महीने की ट्रेनिंग में इस दिशा में विशेष संस्कार डालने में असमर्थ रहे। अतः मैंने यह जरूरी समझा कि शिक्षकों को २४ घण्टे अपने शिविर में रखकर कुछ दिन शिक्षा दी जाय।

स्वावलम्बी समाज-रचना का लक्ष्य

खेती के काम की भीड़ समाप्त हो जाने के बाद हम लोगों ने शिक्षण-शिविर खोलने का अच्छा मौका समझा। ग्रामवासियों को स्वावलम्बी समाज-रचना की ओर ले जाने का दृष्टिकोण सामने रखकर मैंने शिक्षा-शिविर आश्रम में ही खोला और शिविर का प्रबन्ध दो-तीन गाँव की पंचायतों के जिम्मे रखा। यह लिखने में मुझे खुशी है कि ग्रामपंचायतों ने इस जिम्मेदारी को खूबी से निभाया। गाँव के पास एक विस्तृत मैदान में जब मैं शिक्षण-शिविर देखता था, तो चित्त प्रसन्न हो जाता था। दूर से ऐसा लगता था, मानो सिपाहियों की छावनी पड़ी है। शिविर बनाने का सारा सामान भी ग्रामवासियों ने ही इकट्ठा किया था। शिविर को रात्रि-पाठशाला के सेवकों ने अपने हाथ से अपनी कल्पनानुसार ही बनाया था। इसकी योजना और बनावट इतनी सुन्दर थी कि संयुक्त प्रान्त के स्काउट आर्गनाइजर श्रीयुत डी० एल० आनन्दराव जब रणीवाँ आये, तो उन्होंने कहा कि मैं स्वयं भी इस शिविर को बनाता, तो इससे बेहतर नहीं बना सकता था ! कला की दृष्टि से भी शिविर बहुत सुन्दर था। गाँव के किसान नौजवानों के दृष्टिकोण का केवल तीन महीने की ही ट्रेनिंग से कितना विकास हो सकता है, यह तुम देखतीं, तो इसका अन्दाज कर सकतीं कि शिक्षा द्वारा गाँव के लोगों को कितनी जल्दी बदला जा

सकता है। गाँव के लोग अपने को बदलना ही नहीं चाहते हैं, वे अपने गन्दे और रूढ़िपूर्ण जीवन में पड़े रहना चाहते हैं, ऐसी बात करना कुछ लोगों का फैशन सा हो गया है। लेकिन मेरा अनुभव दूसरा ही है। गाँव के लोग जितनी जल्दी अपने विचार और ढंग बदल सकते हैं, उतना शहर के पढ़े लिखे लोग नहीं।

सेवक शिक्षण-शिविर ढाई महीने चला। उसमें स्काउटिंग, चर्खा, झोला, बेल्ट आदि बुनने, अनुशासन, सफाई और सहयोग से रहने आदि की शिक्षा दी गयी। जो आदत शिविर में डाली गयी, उसे कायम रखने के लिए हम लोग उनके घरों में पहुँचा करते थे, क्योंकि यदि शिक्षक के जीवन तथा रहन-सहन में स्थायी परिवर्तन हो सका, तो रात्रि-पाठशाला के विद्यार्थियों के जीवन में भी उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकेगा।

इस प्रकार रात्रि-पाठशाला और स्काउटिंग की मार्फत हम ग्राम-सेवा और संगठन की दिशा में एक कदम और बढ़ सके। धीरे-धीरे हम लोगों ने रात्रि पाठशाला के शिक्षकों को ग्रामोद्योग की किसी-न-किसी दस्तकारी में शिक्षा लेने के लिए प्रोत्साहित किया और उनमें आधे से अधिक नौजवान दिन में ग्रामोद्योग विद्यालय में आकर शिक्षा लेने लगे। उस दिशा में हमने क्या-क्या प्रयोग किये, इस पर फिर कभी लिखूँगा। नमस्कार।

सरकार की सहायता का असर

१९-११-'४१

इधर कई दिनों से पत्र नहीं लिख सका। इसका कारण है—छूटने की हलचल। पर मैक्सवेल साहब का बयान सुनकर जल्दी छूटने से लोग एकदम निराश हो गये। मैं भी इस शान्ति का मौका पाकर पिछले दो वर्ष में केन्द्रीय आश्रम की किस प्रकार प्रगति हुई, इस पर कुछ लिखना चाहता हूँ।

वैसे तो कताई-धुनाई-बुनाई और लकड़ी का काम सिखाने का कार्यक्रम साल-डेढ़ साल से चल रहा था और धीरे-धीरे कागज का काम भी थोड़ा-बहुत शुरू हो गया था, लेकिन कांग्रेस के पद-ग्रहण करने पर ग्रामोद्योग विद्यालय की सम्पूर्ण योजना के लिए धन मिल गया। १८ नवम्बर सन् '३८ को हमने सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय स्थापित कर दिया।

सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना

इससे हमारी योजना को अच्छी प्रगति मिली भी। जो काम हम पाँच-छह साल में कर सकते थे, वह एक ही साल में हो गया। सन् '३८ के नवम्बर से लेकर सन् '३९ के अन्त तक आश्रम में बड़ी चहलपहल रही। हम एक जंगल में पड़े थे। हम सब जितने थे, उन्हींके रहने के लिए पर्याप्त स्थान न था। तिस पर एकाएक ७५ विद्यार्थी, शिक्षक और दूसरे कार्यकर्ता आ गये। आश्रम की आबादी सवा सौ के लगभग हो गयी। इतने लोगों का निवास-स्थान, उद्योग के सब विभागों के लिए मकान, औजार और कच्चे माल की व्यवस्था, सब कुछ इसी वर्ष के भीतर करनी थी। शहर होता, तो काम कुछ आसान हो जाता। लेकिन रणीवाँ तो अन्दर का गाँव ठहरा। इसलिए यह सारी व्यवस्था करने में हमारे सभी कार्यकर्ताओं को रात-दिन एक कर देना पड़ा। कार्यकर्ता-शिक्षण का काम भी जारी रखना था। आश्रम के खादी-विभाग से और सरकारी विभागों से कार्यकर्ताओं की माँग हमेशा बनी रहती थी।

परिस्थिति को देखते हुए रोज कामचलाऊ पाठ्यक्रम बनाकर हम

शिक्षा देते रहे। ऐसी दशा में आश्रम की व्यवस्था और आश्रम-जीवन में बहुत कुछ ढिलाई आ गयी। लेकिन ऐसी परिस्थिति में ऐसा होना अनिवार्य समझकर मैंने विद्यालय को सफल बनाने में ही सारी शक्ति लगा दी। क्योंकि मुझे विश्वास था कि हम यदि सरकारी सहायता का लाभ लेकर विद्यालय को अपने मनोनुकूल बना लें, तो फिर इन गड़बड़ियों को साल-छह महीने में ठीक कर लेंगे, किन्तु परिस्थिति का लाभ नहीं उठायेंगे, तो अपनी कल्पित योजना का सूत्रपात करने में ही वर्षों लग जायँगे। सरकारी साधन एक साथ मिल जाने से और जल्दी से बहुत ज्यादा काम कर लेने का बोझ पड़ जाने से एक नुकसान और हुआ। उसने हमें खर्चे के मामले में बड़ा लापरवाह कर दिया। एक साथ इतने काम की व्यवस्था करने में ऐसी सावधानी सम्भव नहीं हो सकी। खर्चे के इस उदार तरीके ने हमारे काम में कुछ अन्य खराबियाँ भी पैदा कर दीं।

कठिनाइयाँ और त्रुटियाँ

इतने बड़े पैमाने पर सरकारी मदद से आश्रम के ही संघटन को देखकर गरीब ग्रामवासियों का चकाचौंध होना स्वाभाविक था। स्वावलम्बन की दिशा में हम उनके भीतर अब तक जो भावना पैदा कर पाये थे, उसमें ढिलाई दिखाई देने लगी और अब वे हर बात में सहायता की अपेक्षा करने लगे। श्रद्धा तो वे अब भी करते थे, लेकिन श्रद्धा में अब पहले जैसा सात्त्विक प्रेम-भाव न था। इसका अधिकांश दोष पैसे की सहूलियत का है और खर्च करने में हमारी उदारता का है।

इस प्रकार एक ओर यदि हम अपनी कल्पित योजना की दिशा में आगे बढ़े, तो इष्ट भावना की दिशा में कुछ पीछे भी हटे, लेकिन मैंने देखा कि कुल मीजान में हम आगे ही रहे, क्योंकि दूसरे वर्ष से हम परिस्थिति सुधारने में लगे, जो कि धीरे-धीरे सुधरती ही गयी।

दूसरे साल की बात फिर कभी लिखूँगा। ● ● ●

योजना की सही दिशा में

: ४४ :

२०-११-'४१

मालूम नहीं, कल का पत्र पढ़कर तुम पर क्या प्रभाव पड़ा, क्योंकि आम तौर से जो मित्र हमारे काम से सहानुभूति रखते हैं, वे इस प्रकार की परिस्थिति से घबड़ाते हैं। कहते हैं, तुमने सरकारी मदद लेकर यह क्या मुसीबत मोल ली। इस विराट् रूप ने तुम्हारे असली उद्देश्य को ही समाप्त कर दिया। तुम अपनी चीज भी खो बैठे। शायद तुम भी ऐसा ही सोचो। लेकिन क्या ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना करने से हम अपनी योजना या लक्ष्य से अलग हो गये, या उसे किसी प्रकार का नुकसान पहुँचा? ऊपरी तौर से तो यह अवश्य लगता है कि हम पीछे हटे। तात्कालिक हानि अवश्य कुछ दिखाई पड़ती है, लेकिन हकीकत यह है कि जहाँ हम एक दिशा में एक कदम पीछे हटे, तहाँ दूसरी दिशा में कई कदम आगे बढ़े।

प्रश्न है कि क्या इस किस्म की तूफानी परिस्थिति से संस्था को कभी नुकसान नहीं होता? नुकसान जरूर पहुँचता है, पर ऐसी ही संस्था को, जिसके सामने योजना और लक्ष्य स्थिर और साफ नहीं होता है। जिसके सामने अपना दृष्टिकोण साफ रहता है, वह चाहे जितनी सहायता सरकार से ले या दूसरी अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाकर अपनी रफ्तार तेज कर दे, वह अपनी योजना के अनुसार ही आगे बढ़ेगा। एक दृष्टि से देखा जाय, तो इस परिस्थिति से लाभ ही हुआ। एकाएक आर्थिक सहूलियत मिल जाने से खर्च करने का हमने जो ढंग रखा, उसका आश्रम-जीवन पर और ग्रामीण जनता पर जो असर पड़ा, उसका ठीक-ठीक अध्ययन हमने कर लिया। उसे दूर करने की आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं। सेवकों के लिए विभिन्न परिस्थितियों में किस तरीके से चलना चाहिए, उसकी एक बहुत बड़ी शिक्षा हमें मिल गयी। भविष्य में ऐसी परिस्थिति में सावधानी से अपने को सँभालकर हम चल सकेंगे।

मेरा तो स्थिर मत है कि हमारा लक्ष्य और योजना निश्चित है, तो ऐसी परिस्थितियों से लाभ ही होता है। स्थायी हानि की तो मुझे कोई गुंजाइश ही नहीं दिखाई देती।

ऊपर लिखी परिस्थिति देखकर अपने तमाम मित्रों के घबड़ा जाने पर भी मैं घबड़ाया नहीं। हाँ, परिस्थिति फिर से अपने ढर्रे पर लायी जाय, इसकी चिन्ता मुझे हमेशा रही और दूसरे साल मैंने अपना ध्यान इसी ओर लगाना शुरू किया। इस काम के लिए मुझे एक सहूलियत भी थी। यद्यपि मैं अपनी निजी धारणा और अनुभव के अनुसार ही अपनी योजना बनाकर उसका प्रयोग करता था, फिर भी यह गांधी-आश्रम का ही एक अंग था। बिगाड़ने के लिए भले ही मैं अकेला था, लेकिन सुधारने के लिए तो हम कई साथी थे। इस दिशा में हमें सम्पूर्ण रूप से मदद मिलती रही।

इस प्रकार हमने सन् '४० के सालभर में विद्यालय का निश्चित पाठ्यक्रम ठीक कर लिया, हिसाब-किताब का तरीका भी सँभाल लिया और साधारण व्यवस्था भी ढर्रे पर आ गयी। आश्रम-जीवन सम्पूर्ण रूप से सन्तोषजनक तो नहीं हो सका, लेकिन सन् '३९ की परिस्थिति हमने सँभाल ही ली। गाँव के लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होने लगा।

सन् '४० में हमने अपनी ग्राम संघटन की योजना के लिए एक दूसरा कदम भी उठा लिया। आश्रम के चारों ओर के देहातों में से

एक कदम और

दर्जा ४ तथा मिडिल पास नौजवानों को कागज बनाना सिखाकर अपने-अपने गाँव में उद्योग-केन्द्र की स्थापना के उद्देश्य से हमने आश्रम के विद्यालय में उन्हें भरती कर लिया। जनवरी '४१ में हमने उन नौजवानों से उनके ग्रामों में उद्योग-केन्द्र खुलवा दिये। इस प्रकार भीड़ के कारण जो गड़बड़ी पैदा हो गयी थी, उसे हमने बहुत कुछ सँभाल लिया। साथ ही अपनी अन्तिम योजना के अनुसार देहातों में उद्योग-केन्द्र-स्थापना की दिशा में हम एक कदम आगे बढ़ सके। अब हमारे सामने अगले साल के लिए इन समस्याओं का हल करना बाकी रह गया :

१. विद्यालय को स्वावलम्बी कैसे बनाया जाय, जिससे बिना बाहरी सहायता के भी काम चलता रहे।

२. ग्रामोत्थान के काम में पंचायतों को स्वावलम्बी बनाना और जिन नौजवानों से हम उद्योग-केन्द्र खुलवा रहे थे, उन्हें ग्रामोत्थान-कार्य में दिलचस्पी दिलाकर पंचायतों को सहायता पहुँचाना।

३. आश्रम-आदर्श और जीवन में सुधार करना।

इन दिनों मैंने ऊपर लिखी हुई तीन समस्याओं को हल करने में अपना ध्यान लगा दिया। लेकिन अप्रैल में ही मैं नजरबन्द होकर यहाँ चला आया और वह काम करने का मौका नहीं मिला। फिर भी एक संस्था का अंग होने से वह काम तो चलता ही रहा। अब आश्रम की ओर से विचित्रभाई रणीवाँ का काम चला रहे हैं।

इस साल हमें एक सुविधा और मिल गयी। सरकार ने मदद देने से इनकार कर दिया। आश्रमवासी जो काम बहुत देर में कर पाते, वह काम अब तुरत होने लगा। गाँव के लोग भी अब ज्यादा मुस्तैदी से आत्म-निर्भरता की ओर जा रहे हैं। इसकी खबर मुझे जेल में मिल रही है। जिस समय हम ग्रामोद्योग की ओर बढ़ रहे थे, उस समय सरकारी सहायता ने हमारी गति तेज कर दी थी और आज जब हमने अपने आदर्श को ढंग पर लाना शुरू किया, तो सहायता बंद करके सरकार ने हमारे काम को फिर से तेज कर दिया। अब देखना है कि अगले दो साल में हमारी योजना अपने स्थान पर पहुँचती है या नहीं।

आश्रम के इस उतार-चढ़ाव से यह स्पष्ट है कि ग्राम-सेवा की तात्कालिक कठिनाई से घबड़ाना नहीं चाहिए। केवल यह देखना चहिए कि अपने लक्ष्य की ओर अपना रुख स्थिर है या नहीं। सब परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहिए और अपने उद्देश्य और आदर्श को कायम रखते हुए जिस प्रकार भी मिल सके, सहायता और सहयोग लेना चाहिए।

अब पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

•••

२५-११-'४१

सन् १९२३ में जब मैं टाँडा के देहात में घूमता था, उन दिनों चमारों और कुर्मियों की स्त्रियों की बाबत मैं जो कुछ अध्ययन कर सका था, वह तुम्हें लिख चुका हूँ। जब हम रणीवाँ आये, तो हम लोगों का सम्बन्ध मध्यम श्रेणी के परिवारों से हुआ। रणीवाँ गाँव के लोगों का सम्बन्ध तो घर के जैसा हो गया था। धीरे-धीरे दूसरे गाँवों के लोगों से सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मेरे होमियोपैथिक इलाज की काफी दूर तक शोहरत हो गयी थी। इलाज के लिए लोग आश्रम में भीड़ लगाये रहते थे। प्रतिदिन रोगियों की संख्या ५० से ७५ तक हो जाती थी। जो लोग हमसे इलाज कराने आते थे, उनमें अधिकतर स्त्रियाँ और बालक होते थे। स्त्री-रोगियों के इलाज के वास्ते हर प्रकार के लोगों के घरों के भीतर जाना पड़ता था। इस प्रकार दवा के सिलसिले से और फिर बाद में चर्खा-विद्यालय के जरिये स्त्रियों से हम लोगों का अधिक परिचय हो गया।

टाँडा के इलाके के कुर्मियों की स्त्रियों की शारीरिक और नैतिक स्फूर्तियों को देखकर, उनकी घर-गृहस्थी के मामले में भीतरी और बाहरी दिलचस्पी तथा पुरुषों से प्रत्येक काम में सहयोग की वृत्तियों को देखकर देहाती स्त्रियों के प्रति मेरी जो भावना थी, रणीवाँ के आसपास की उच्च श्रेणियों की स्त्रियों से मिलकर उसमें अन्तर जरूर पड़ गया। स्त्री-जाति इतनी काहिल होती है, इसका अन्दाज मुझे पहले नहीं था। इनमें न तो कुर्मियों जैसी शारीरिक शक्ति है और न नैतिक बल ही। इनके घरों में सफाई की कमी दिखलाई देती है। किसी घर में एक ही स्त्री हो और वह स्त्री प्रौढ़ा हो, तो उसके घर में सफाई भी देखने को मिलती है और परिश्रम की भावना भी दिखाई देती है। परन्तु ऐसे घर बहुत कम हैं।

ऊँचे और नीचे वर्ग की स्त्रियाँ

जिस घर में स्त्रियाँ अधिक हैं और खास तौर पर वे कम उम्रवाली हैं, तो काहिली और गन्दगी का कुछ हिसाब नहीं। इनका मानसिक विकास भी कुछ नहीं के बराबर है। टाँडा में कुर्मियों की स्त्रियाँ जब मुझसे बात करती थीं, तो बहुत-सी बाहरी बातें पूछा करती थीं। गांधी बाबा कहाँ हैं और 'स्वराज्य कब होत बा' इत्यादि प्रश्न करती थीं, लेकिन ऊँची जातियों में जो लोग पढ़े-लिखे हैं, जो कांग्रेस में भी हैं, उनकी स्त्रियाँ भी इन बातों से बिल्कुल शून्य हैं। मैंने देखा कि पर्दा में एक आँगन के घेरे में बन्द रहकर वे इतनी संकीर्ण हो गयी हैं कि यह भी पता नहीं चलता है कि वे समाज का एक अंग हैं, पुरुषों के काम-काज में वे बिल्कुल सहायक नहीं होतीं और न पुरुष लोग ही अपने कार्यक्रम के बारे में उनको दिलचस्पी दिलाते हैं। नतीजा यह है कि वे सदा काहिली और शौकीनी में ही डूबी रहती हैं। उन्हें शृंगार और शौकीनी से इतना प्रेम हो गया है कि अपने बच्चों के प्रति भी विशेष ध्यान नहीं दे पातीं।

विलास और पतन की ओर

मैंने देखा है कि ऊँची श्रेणी के घरों की माताएँ सुबह उठकर छोटे बच्चों को बिना शौचादि कराये बड़े बच्चों के कन्धे पर लादकर बाहर कर देती हैं। फिर निश्चिन्त होकर अपने कमरे में शीशा, तेल आदि शृंगार के साधन निकालकर घण्टा-भर अपने को सजाने में लगती हैं। बच्चों के नाक और आँख के कीचड़ में भले ही मक्खियाँ भिन-भिन करती रहें, लेकिन माता का साज-बाज पूरा होना जरूरी है। इस काहिली और विलास के कारण चारों ओर, घर-घर अनीति और दुर्नीति फैल गयी है। इस भीषण दुर्नीति का एक विशेष कारण है—भयंकर सामाजिक अनमेल विवाह। ब्राह्मण और क्षत्रियों में, खास तौर से ब्राह्मणों में १६-१७ और कभी २०-२० साल की लड़कियों से १०, १२, १४ साल के लड़कों का विवाह-सम्बन्ध कर दिया जाता है। ऐसी हालत में विवाह के बाद लड़कियों के लिए नीति की मर्यादा बनाये रखना कठिन हो जाता है और जब परम्परा से ऐसी प्रथा चलती है, तो समाज में इस भयंकर दुर्नीति को आम बात समझ-

कर लोग कुछ खयाल भी नहीं करते हैं। आज यह रोग इतना व्यापक हो गया है कि समाज की नस-नस में घुस गया है। उच्च वर्ण के लोगों में हर प्रकार की खराबियाँ पहुँच जाने से सारी जनता में लड़ाई-झगड़े की प्रवृत्ति घर कर गयी है।

मैं पहले पत्रों में लिख चुका हूँ कि देहात में स्त्रियाँ ही संसार और समाज की व्यवस्थापिका होती हैं। जिस घर में स्त्रियाँ बेकार होती हैं, उस घर में चाहे जितनी आमदनी हो, वह उजड़ जाता है और जिस घर की स्त्री सुगृहिणी होती है, वह घर चाहे जितना गरीब हो, बन जाता है। तभी तो हमारे यहाँ नारी को 'देवी' कहा गया है, घर की स्त्री को गृहलक्ष्मी कहा गया है; लेकिन आज तो ये देवियाँ और गृहलक्ष्मियाँ घर उजाड़नेवाली भवानी माई हो रही हैं।

गृहलक्ष्मी से चण्डिका

स्त्रियों की यह भयावह स्थिति देखकर मैं परेशान होता था और स्त्रियों की शिक्षा पर हमेशा जोर देता था। आश्रम में हमारे साथी लोग जब अपनी स्त्रियों को लाते थे, तो मैं हमेशा कोशिश करता था कि वे कुछ सीख लें, कुछ काम कर सकें। भारत में स्त्रियों को 'सहधर्मिणी' कहते हैं। मैं तो यही जानता हूँ कि भारत-भूमि में बिना पत्नी के कोई यज्ञ नहीं हो सकता। गुरुदेव ने चित्रांगदा की जबानी भारतीय स्त्री का जो आदर्श सुनाया, उसीको मैं मानता हूँ। इसी भारत-रमणी ने तो कहा था—

"पूजा कर राखीबे माथाय से ओ आमि,
नइ; अवहेला करि पूषिया राखिबे
पीछे, से ओ आमि नइ। यदि पार्श्वे राखि,
मोरे संकटेर पथे दुःसह चिन्तार।
यदि आज्ञा दाओ, यदि अनुमति करो,
कठिन व्रतेर तब सहाय्र हइते,
यदि सुखे दुखे मोरे करो सहचरी,
आमार पाइबे परिचय।"

यह भारत-रमणी का परिचय है। लेकिन जब आश्रम-जैसी युगावतार की क्रांतिवाणी प्रसार करनेवाली क्रांतिकारी संस्था के लोगों की स्त्रियों को 'कठिन व्रतेर सहाय हइते' योग्य शिक्षा की बात करना हास्यास्पद होता है, तो तुम साधारण जनता से क्या उम्मीद कर सकती हो ? आश्रम में मैं हमेशा स्त्री-सुधार की बात करता था, आदर्श का खयाल करके। लेकिन जब गाँव की मध्यम श्रेणी की हालत देखी, तो स्तम्भित हो गया। मेरी समझ में नहीं आया कि स्त्री-समाज यदि ऐसा ही रहा, तो ग्रामोत्थान होगा किधर से ? क्योंकि मैं इस बात का कायल था ही कि बिना स्त्रियों के उठे कोई सामाजिक जीवन बन नहीं सकता है। अतः मैं इस बात की चिन्ता में लगा रहा कि इनकी शिक्षा का किस प्रकार प्रबन्ध किया जाय, लेकिन तत्काल कोई उपाय न देखकर इस दिशा में साधारण प्रचार से ही संतोष करना था।

बाद में जब मैंने ग्राम-सुधार-विभाग की जिम्मेदारी ली, तो इस ओर कुछ व्यावहारिक प्रयोग करने की सुविधा मिल गयी और मैंने इस दिशा में व्यापक प्रयोग के लिए कदम उठा लिया। स्त्री-सुधार का काम करने में मित्रों के संस्कार की कठिनाई का सामना करना पड़ा, किंतु ईश्वर की कृपा से कुछ व्यावहारिक प्रयोग इस दिशा में हो ही गया। इसकी कहानी फिर कभी सुनाऊँगा।

● ● ●

स्त्री-सुधार की ओर

: ४६ :

२६-११-'४१

परसों मैंने एक पत्र स्त्रियों की बाबत लिखा था। मैं जब स्त्रियों की बात सोचता था और कुछ नहीं कर पाता था, तो कभी-कभी निराश हो जाता था। सन् '३८ के शुरू में मुझे जब ग्राम-सुधार का काम मिला, तो एकदम खयाल आया कि अब मौका है, अपनी योजना का प्रयोग शुरू कर दूँ। लेकिन इसका व्यावहारिक रूप क्या होगा, इसकी कल्पना ठीक-ठीक न कर सका। एक बार कुछ स्त्री-संघटनकर्त्रियाँ भर्ती करने की योजना बनाकर सरकार के पास भेजने की सोची, लेकिन मुझे उसमें खतरा ही मालूम हुआ। एक तो बाहर से अच्छे घर की कोई स्त्री अकेली गाँव में जाकर रहने के लिए तैयार नहीं होगी और जो तैयार होगी, उसकी योग्यता और दृष्टिकोण हमारे काम लायक नहीं होगा। मुझे कोई निश्चित योजना नहीं दिखाई दी, लेकिन मैं विचार करता गया। इन्हीं दिनों आश्रम में सूत-सुधार के लिए कत्तिन-स्कूल खोला गया। चर्खा-संघ ने कत्तिनों की मजदूरी बढ़ाकर तीन आने कर दी। अधिक मजदूरी देने से यह जरूरी हो गया कि सूत की किस्म सुधरे। फैजाबाद जिले में अकबरपुर में आश्रम का एक बड़ा उत्पत्ति-केन्द्र है। पहले-पहल तो मुझे अकबरपुर से ही गाँव का परिचय मिला। इस केन्द्र के सूत सुधारने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर पड़ी। मेरे दिमाग में स्त्री-सुधार-आन्दोलन चलाने की चिन्ता थी ही। मैं इन स्त्रियों से बातें करता था, जिसमें देश दुनिया की बातें ही अधिक होती थीं। मैंने सोचा, जब हम तीन आने मजदूरी देते हैं, तो उनका बाकायदा शिविर क्यों न खोल दें। उनके एक जगह बैठकर कातने पर हम उनको एक साथ बहुत कुछ शिक्षा दे सकेंगे। अतः मैंने उनके लिए परिश्रमालय चलाने की योजना बनायी।

इस जिले की कत्तिनों में तो मैं सन् १९२३ से ही काम करता था, लेकिन इस दृष्टिकोण से कभी अध्ययन करने की कोशिश मैंने नहीं की। उन दिनों मुझमें न तो ऐसी योग्यता ही थी और न इस दिशा में सोचने लायक अनुभव ही था। इस बार मैंने ६-७ माह में उनसे घनिष्ठता के साथ जो परिचय किया, तो देखा कि पढ़ी-लिखी न होने पर भी उनमें धारणा-शक्ति बहुत है। वे बहुत जल्दी बातों को समझ सकती हैं। बड़ी स्त्रियों का बौद्धिक विकास बहुत आसानी से किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। कत्तिनें ठेठ ग्रामीण किसान के घर की होती हैं। उनमें यदि इतनी सम्भावनाएँ हैं, तो देहात की किसी भी श्रेणी की स्त्रियों को शिक्षा दी जा सकती है।

स्त्रियों से असीम सम्भावनाएँ

मैंने संभावनाओं को तो देख लिया। कत्तिन विद्यालय एक या डेढ़ माह तक ही चलता था। यह कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। इन स्कूलों की मार्फत कुछ स्थायी नतीजा निकलने की गुञ्जाइश नहीं दिखाई देती थी। अतः मैं स्त्री-सुधार-आन्दोलन को व्यावहारिक रूप में लाने के विचार में लगा रहा। तीन आने मजदूरी होने से और कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने से चर्खे का प्रचार और संख्या भी खूब बढ़ने लगी। जिन क्षेत्रों में चर्खा नहीं चलता था, उन क्षेत्रों में चर्खा-केन्द्र खोलने लगे। अकबरपुर से पूर्व बिड़हड़ इलाके में मुबारकपुर हमारा सूत-केन्द्र था। उन दिनों मैं नये क्षेत्रों में चर्खा-प्रचार के लिए दौरा किया करता था। वस्त्र-स्वावलम्बन के विषय में सब जगह चर्चा करता था। साथ ही सूत न बेचकर खादी लेने के लिए खूब जोर देता था।

एक दिन मैंने वहाँ के लोगों से कहा कि आपके यहाँ के इतने नौजवान बेकार पड़े हैं। आप क्यों न इनको बुनाई सिखा दें और उनसे अपना सूत बुनवायें। इस बात से वे सब उत्साहित हुए और कहने लगे कि आप यहाँ बुनाई विद्यालय खोल दीजिये, तो हम अपने लड़कों को बुनाई सिखा लेंगे। मैंने उनसे कहा कि विद्यालय का प्रबन्ध भी तो आप ही को करना

है। आज एक विद्यालय के प्रबन्ध से घबराते हैं, तो सारे देश का प्रबन्ध कैसे करेंगे ? तब मैंने उन्हें बापू की स्वावलम्बिनी समाज-रचना का आदर्श समझाया। इससे वे कुछ करने के लिए तैयार हो गये। उसी गाँव के एक नौजवान साधु होकर गाँव के बाहर कुटीर बनाकर रहते थे। उन्होंने जिम्मेदारी भी ले ली। बहुत विचार-विनिमय के बाद तय हुआ कि वे विद्यालय के मकान आदि बनवायें। तात्पर्य यह कि सारी व्यवस्था वे ही करें। यदि १६ विद्यार्थी हो जायँ, तो हम आश्रम से करघा और शिक्षक दे देंगे। इन लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। एक बहुत बड़ा मकान बनवाया—७० फुट लम्बी कोठी, दोनों ओर दो कोठरी और सामने उसारा। लोगों ने विद्यालय के लिए जमीन भी काफी छोड़ दी। लोग गरीब थे, लेकिन उन्होंने मेहनत करके सौ-डेढ़ सौ गाँव से सामान और अनाज माँग-कर इस इमारत को बना डाला। बाद को यह व्यवस्था नहीं चल सकी। वे समझते थे कि बुनाई जल्दी आ जायगी। लेकिन उसमें तो सालभर लगता है। इसलिए सालभर के बाद विद्यालय चल नहीं सका। मैं गया तो शिक्षक वापस लेने के लिए, वे इनकार भी कर नहीं सकते थे। लेकिन वहाँ के लोग कहने लगे—"हम लोगों ने इसे स्थापित करने में बहुत प्रयत्न किया है। आप कोई ऐसा काम बताइये, जिसे हम लोग चला सकें और यह स्थान भी बना रहे।"

उन दिनों मेरे दिमाग में स्त्री-सुधार-आन्दोलन कैसे शुरू किया जाय, इसीका विचार चलता था। मैंने एकाएक कह दिया कि "आप यहाँ यदि स्त्री-सुधार-केन्द्र बना दें, तो मैं अपना समय आपको दे सकूँगा।" फिर मैंने उन्हें देहात की स्त्रियों की वर्तमान और भूतकालिक स्थिति बताकर कहा कि बिना इनके सुधरे और बिना इनके उठे देश उठ नहीं सकता। स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन नहीं बन सकता और सामाजिक जीवन से ही राष्ट्रीय जीवन बनता है। उस गाँव तथा उसके आसपास गाँवों के खास-खास कुछ लोग थे, जिनके लिए पर्दा खतम करना एक महापाप था। उनके गले यह बात उतरनी मुश्किल थी,

लेकिन धीरे-धीरे वे इसके सिद्धान्त को मानने लगे। अब आया निश्चित योजना का सवाल। मैंने दूसरे दिन सबेरे खास-खास लोगों से सभा करने को कहा। क्योंकि मैं समझता था कि स्त्रियों के कार्यक्रम की सफलता के लिए अधिक लोगों की सम्मति की आवश्यकता है। उस दिन मैं उसी गाँव में टिक गया। रात्रि को इसी चिन्ता में रहा कि यह काम कैसे हो सकता है ? स्त्रियाँ तो पहले आयेंगी नहीं। अतः पहले लड़कियों को लेकर ही काम शुरू करना है। मेरे विचार में यह बात आयी कि यदि गाँव की बहुओं में से ऐसी कोई मिल जाय, जो दर्जा ३-४ तक पढ़ी हो, तो उसीको शिक्षा देकर उसी ग्राम में स्त्री-सुधार-केन्द्र खोला जाय, तभी यह योजना चल सकती है। गाँव की बहू घर पर रहने से ५-७ रुपया मासिक पारितोषिक से संतोष भी करेगी और घर ही पर रहने के कारण उस स्त्री के संरक्षण की चिन्ता हमें नहीं रहेगी। फिर क्रमशः उसी स्त्री का बौद्धिक विकास करके उस ग्राम के स्त्री-सुधार-आन्दोलन की संचालिका उसे बनाया जा सकेगा।

स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन संभव नहीं

सुबह उठकर मैंने स्वामी यमुनानन्द से अपना विचार प्रकट किया और उनसे पूछा कि ऐसी कोई स्त्री यहाँ है या नहीं। स्वामीजी ने सोचकर बताने के लिए कहा। जब सब लोग इकट्ठे हुए, तो मैंने उनके सामने अपना प्रस्ताव रखा। इससे सब निराश हो गये और कहने लगे— "अध्यापिका का प्रबन्ध आप करें।" मैंने उनसे अपना सारा विचार बताया। स्थानीय स्त्रियों की मार्फत ही यह काम हो सकता है, इस बात पर जोर दिया। गाँव की बहुओं को बाहर आने की सम्भावना की बाबत वे सोच भी नहीं सकते थे। उधर अधिकतर उच्च वर्ग के लोग ही रहते हैं। पर्दे का संस्कार उनमें इतना घुस गया था कि उनके लिए इस प्रकार का विचार करना भी सम्भव नहीं था, फिर भी इस पर विचार करने का उन्होंने वादा किया। मैंने यमुनानन्दजी से ऐसी स्त्री खोजने को कहा और यह भी कहा कि यदि स्त्री मिल जाय और इस काम को करे, तो मैं आश्रम से ५) मासिक पुरस्कार मंजूर कर दूँगा।

दस-पंद्रह दिन में स्वामीजी का पत्र आया कि उस गाँव की एक बहू दर्जा ४ पास है, जो उस काम के लिए तैयार है। उसमें ५) के बजाय ७) पुरस्कार मंजूर करने की भी प्रार्थना थी। मैंने ७) मंजूर करके उस गाँव में लड़कियों का विद्यालय खोलकर गाँव की स्त्री-सुधार-योजना के प्रयोग का श्रीगणेश कर दिया।

स्त्रियों की समस्या का एक समाधान और उसके प्रयोग का एक मौका मिल जाने से मैं इस प्रश्न पर जोरों से विचार करने लगा। मैंने सोचा कि इस तरह लड़कियों से शुरू करके स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। गाँव के पर्दे की यह हालत थी कि जिस बहन को हमने काम में लगा दिया था, वह अपने को पर्दे में ढँककर विद्यालय में हाजिर हो जाती थी। मैं जब कभी स्कूल जाता था, तो वह घूँघट काढ़कर एक कोने की ओर मुँह करके बैठ जाती थी। मैं लड़कियों से बात करके ही पाठशाला के काम की प्रगति देखकर लौट आता था। धीरे-धीरे वहाँ की अध्यापिका श्रीमती धर्मराजी बहन विद्यालय की बाबत मुझसे बातें भी करने लगीं। बाद को उस गाँव की स्त्रियों में कुछ दिलचस्पी आने लगी। एक बार जब मैंने उस गाँव में स्त्रियों की सभा की, तो बहुत-सी स्त्रियाँ आ गयीं। इस तरह मैंने इस बात को देख लिया कि यदि हम लड़कियों के स्कूल से अपना कार्यक्रम शुरू करें, तो धीरे-धीरे पर्देवाली स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। इसमें समय जरूर लगेगा, परन्तु उपाय यही है। ● ● ●

ग्राम-सेविका-शिक्षा-योजना

: ४७ :

२७-११-'४१

स्त्री-शिक्षा की अपनी योजना के व्यावहारिक प्रयोग के साथ-साथ मैं इस बात पर विचार करता रहा कि ग्राम-सुधार-विभाग का लाभ उठाकर हम देहात में किस प्रकार स्त्री-सुधार-आन्दोलन चला सकेंगे। कैसे और कहाँ से शुरू करें, किस प्रणाली से आगे बढ़ें, गाँव की बहुओं को हम इकट्ठा कर सकेंगे या नहीं, उनकी शिक्षा का कैसे प्रबन्ध करेंगे, संगठन का क्या रूप होगा आदि प्रश्नों पर दिन-रात विचार करता रहा। आखिर अपने मन में मैंने एक ऐसी कामचलाऊ योजना बना डाली :

१. जिस तरह हमने बहन धर्मराजी देवी को खोज निकाला, उसी तरह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के देहातों से दर्जा ३-४ पास प्रतिष्ठित घर की बहुओं को खोज निकालें और उन्हें काम करने को राजी करें।

२. स्त्रियों को ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से तीन साल की शिक्षा इस प्रकार दें :

क. पहले-पहल एक केन्द्रीय शिक्षण-शिविर खोलकर तीन महीने प्रारम्भिक शिक्षा दी जाय। इन तीन महीनों में उनकी पर्दे में रहने की शर्म हट जायगी। बाहरी दुनिया की बाबत कुछ जानकारी हो जाने से उनमें हिम्मत और आत्म-विश्वास पैदा होगा। बहुत अर्से से पढ़ना-लिखना छूट जाने के कारण जो बातें भूल गयी हैं, उन्हें दोहरा लेंगी। कताई-धुनाई का भी साधारण ज्ञान हो जायगा। यानी तीन महीने में हम उनमें ग्राम-सेविका की मनोवृत्ति बना लेंगे।

उसके बाद नौ महीने गाँव के कार्यक्षेत्र में शिक्षा दी जाय। इस बीच एक पाठशाला चलायें, जिसमें गाँव की लड़कियाँ तो पढ़ें ही, साथ ही जहाँ

तक सम्भव हो, गाँव की बहुओं को भी शिक्षा दी जाय और ग्राम-सेविका को आगे पढ़ाने के लिए एक अध्यापक निश्चित कर दिया जाय, जिससे जो दर्जा ४ पास नहीं हैं, वे दर्जा ४ पास करके लोअर मिडिल की तैयारी कर सकें और जो दर्जा ४ पास हैं, वे सीधे तैयारी करें। ग्राम-सेविका के लिए विद्यालय के साथ एक छोटा-सा पुस्तकालय तथा एक साप्ताहिक पत्र का प्रबन्ध करके देश और दुनिया के विषय में साधारण दृष्टिकोण का विकास किया जाय।

ख. नौ महीने के बाद फिर तीन महीने के लिए उन्हें केन्द्रीय शिक्षण-शिविर में बुला लिया जाय, जिसमें देश और समाज का साधारण ज्ञान, देहात की स्त्रियों में क्या-क्या सुधार करना है, बच्चों को कैसे रखा जाय आदि विषयों की जानकारी करायी जाय। साथ ही चर्खा और दूसरी उपयोगी दस्तकारी के साथ देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का बोध कराया जाय, जिससे उनकी मनोभावना स्वभावतः समाज-सेवा की ओर झुक सके।

ग. पिछले साल की भाँति इस साल भी ९ माह घर पर रहकर उसी ग्राम का केन्द्र चलाया जाय। इस साल लड़कियों के साथ-साथ अधिक संख्या में बहुओं को लाने की कोशिश की जाय। गाँव के घरों की सफाई व चर्खा का कार्यक्रम रहे। साथ-साथ उनमें जो लोअर मिडिल पास कर लें, उन्हें मिडिल की तैयारी करायें और बाकी को लोअर मिडिल की तैयारी करायें।

घ. तीसरे साल भी ३ माह शिविर की शिक्षा और ९ माह कार्यक्षेत्र की शिक्षा।

इस प्रकार उनमें इतनी योग्यता ला देने का मुझे विश्वास था :

१. मिडिल तक की योग्यता। २. चर्खा और घरेलू आवश्यक धन्धे जैसे सिलाई, गुँथाई, काढ़ना। ३. देश और दुनिया का साधारण ज्ञान। ४. ग्रामीण समस्याओं का ज्ञान। ५. बच्चों के पालन और प्रसूति-विज्ञान की जानकारी।

तीन वर्ष में उनके अपने जीवन और दृष्टिकोण में इतना परिवर्तन करना सम्भव है कि हमारी कल्पना के अनुसार उनकी मार्फत स्त्री-सुधार की सेविका जिम्मेदारी उठा सके, ऐसा मैं मानता था। इस तीन साल के प्रचार और व्यावहारिक सेवा से उस क्षेत्र में ऐसा वायुमण्डल पैदा करना कठिन नहीं था, जिससे प्रायः सभी स्त्रियाँ हमारे कार्यक्रम में भाग ले सकें।

इस प्रकार मन में अपनी योजना की साफ-साफ रूप-रेखा बनाकर खर्चे के लिए ग्राम-सुधार दफ्तर से मैंने बातें कीं। मैंने सोचा था कि उधर से यदि कुछ प्रोत्साहन मिले, तो मैं अपने विभाग के मन्त्री श्री टी० एन० कौल, आई० सी० एस० की सलाह से योजना को एक निर्दिष्ट रूप देकर सरकार के पास भेज दूँगा। लेकिन विभाग से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। वह स्त्रियों के काम की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता था। दूसरे स्थानों में स्त्रियों को काम कराने के प्रयत्न में विफल होने से इसकी सफलता पर भरोसा नहीं था। अतः प्रांतीय दफ्तर ने कुछ सहायता मिलने की मुझे कोई आशा नहीं दी।

जिले में मैंने विभाग के मन्त्री और इन्सपेक्टर को अपना विचार बताया। उन्हें यह योजना पसन्द आयी। श्री कौल तो अत्यधिक उत्साहित हुए। मैंने उनसे कहा कि प्रान्त से कोई सहायता नहीं मिलेगी, लेकिन हमारे जिले की शिक्षा के लिए जो मंजूरी है, उसमें स्त्री या पुरुष थोड़े ही लिखा है ? इसलिए जिला-समिति तो इसे केवल स्त्री-शिक्षा में ही खर्च कर सकती है। फिर भी श्री कौल ने एक योजना बनाकर सरकार को भेज दी। मैं पहले ही रुख देख आया था; उधर से कोई आशाजनक उत्तर नहीं आया। फिर हमने ऐसा विचार किया कि हम लोग शिक्षा-कोष से मासिक वृत्ति देकर शिविर में स्त्रियों को लाकर पहले ३ माह की शिक्षा दे ही सकते हैं। शिविर-खर्च के लिए शहर से कुछ चन्दा लेने का भी विचार किया और उसके लिए समिति बना ली। समिति बनने से और चन्दे का काम शुरू होने से जिलेभर में योजना की बात सब लोग जान गये। इस शिविर में

शरीक होने के लिए देहाती भाइयों के नाम एक अपील छपवाकर बँटवा दी गयी।

उन दिनों मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। शहर में मित्रों को समझाना, उनकी आलोचनाओं का उत्तर देना, देहात में लोगों को समझाकर शिविर में उनकी बहू-बेटियों को भेजने के लिए राजी करना आदि सभी काम करना पड़ता था। श्री कौल और इन्स्पेक्टर भी इसके लिए कल्पनातीत परिश्रम करने लगे।

आज हमारे बैरक से भी दो साथी छूटे। बैरक के बुजुर्ग कानपुर के पुराने नेता श्री नारायण अरोड़ा आज छूट रहे हैं। वे रात को गांधीवाद और गांधी-सिद्धांत की पुस्तकें पढ़कर व्याख्या करते थे। कल से वह काम मुझे ही करना होगा। इस बार जेल आने पर मेरा श्री मैथिलीशरण गुप्त और अरोड़ाजी से घनिष्ठ परिचय हुआ, इसलिए अरोड़ाजी के छूटने से खुशी भी है, दुःख भी। खैर, यह सब तो होता ही रहेगा। ● ● ●

खतरे की शंका

२८-११-'४१

मैंने जब ५० स्त्री-सुधार-केन्द्र खोलने का विचार किया, तो मेरे मित्र-समुदाय में बहुत बड़ी हलचल मच गयी। अधिकांश लोग सिद्धांततः तो मेरी योजना ठीक मानते थे, लेकिन उन्हें इसमें खतरा दीखता था। उनका कहना था कि गाँव के लोग भला अपने घर की स्त्रियों को क्यों भेजने लगे? फिर आप लड़कियों को नहीं, बहुओं को बुलाना चाहते हैं, यह तो और भी कठिन है। स्त्रियों के शिविर खोलेंगे, उसमें बड़ी-बड़ी बदनामियाँ होंगी। गाँव के भले घर से तो कोई भेजेगा ही नहीं। जो लोग आयेंगे, उनसे आप क्या काम लेंगे? सबसे अधिक एतराज लोगों का यही था कि इससे व्यभिचार की वृद्धि होगी। गाँव से परदा हट जायगा, तो और भी अनर्थ हो जायगा।

आपत्तियाँ

भला पिटरौल और आग कहीं एक साथ रखना चाहिए? यह तो तुम्हें मालूम ही है कि जब कभी स्त्रियों के संगठन के सम्बन्ध में बात की जाती है, तो लोग घबरा जाते हैं। यदि स्त्रियों को समाज में पुरुषों के साथ कार्य-क्षेत्र में भाग लेने का अवसर दिया जायगा, तो उनके विचार में समाज में एक एक प्रकार का सार्वजनिक व्यभिचार फैल जायगा। साथ ही वे यूरोपीय समाज के साथ तुलना भी करने लग जाते हैं। मालूम नहीं, यूरोपीय समाज की नैतिक स्थिति कैसी है। उसका हमें ज्ञान है ही नहीं। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे जितने मित्रों ने यूरोप में भ्रमण किया है और यूरोपीय समाज का अध्ययन किया है, वे कहते हैं कि यूरोपीय समाज के लोग अपने यहाँ के सामाजिक क्रिया-निषेधों की मर्यादाओं का उतना उल्लंघन नहीं करते हैं, जितना हमारे देश में आज के लोग करते हैं। लेकिन हमें यूरोप के समाज के बारे में झगड़ा करने से क्या फायदा?

जिस चीज का मैंने प्रत्यक्ष अध्ययन नहीं किया है, उसके विषय में कह ही क्या सकता हूँ ?

मैंने अवध का देहाती समाज देखा है ! हम उस समाज की स्थिति का विश्लेषण करके देखें कि हमारे मित्रों की धारणा किस हद तक सही है और समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की वास्तविक स्थिति क्या है । ग्रामीण समाज में तीन श्रेणी के लोग रहते हैं : (१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ, बनिया आदि उच्च श्रेणी कहलानेवाले लोग, (२) कुरमी, अहीर, काछी आदि किसान जाति के लोग, जो खेती में मेहनत करके अपना गुजर करते हैं, (३) चमार, केवट, पासी आदि मजदूर श्रेणी के लोग, जो खेती और दूसरे धन्धों में औरों के लिए श्रम करके गुजारा करते हैं ।

ग्रामीण समाज की तीन श्रेणियाँ

इन तीनों में प्रथम श्रेणी के लोगों में स्त्रियों को घेरे में अलग रखने का रिवाज है । उनके स्त्री-पुरुष एक क्षेत्र में काम नहीं करते हैं । लेकिन आम स्त्री-पुरुषों में दुर्नीति की खोज की जाय, तो इन्हींमें इसकी अधिकता मिलेगी । दरअसल अलग-अलग रहने से ही उनके चित्त में विकार पैदा होता है । दूसरी और तीसरी श्रेणी में स्त्री-पुरुष एक साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खेत में निधड़क काम करते हैं । ढोते समय शरीर से सटाकर बोझा एक सिर से दूसरे पर रखते हैं, लेकिन उनमें तो विकार पैदा नहीं होता । टाँडा के देहातों में घूमने के समय चमारों की प्रवृत्ति का जो अनुभव मैंने बताया था, वह भी तो उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क के कारण है । अन्यथा बाद में मैंने कितने ही चमारों को देखा है, जो स्वतन्त्र रूप से खेती करते हैं । उनके यहाँ तो वातावरण निर्मल ही रहता है ।

प्रथम श्रेणी में दुर्नीति

हमारे यहाँ लोगों में एक विचित्र मनोभावना पैदा हो जाती है । जब कभी हम ऐसा समाज देखते हैं, जिसमें पर्दा नहीं है या जहाँ स्त्री-पुरुष सभी साथ-साथ चलते हैं, तो हमारी दृष्टि दूसरी ओर ही जाती है । ऐसे लोग भूल जाते हैं कि भारतीय समाज की ८० फी सदी आबादी किसान

और मजदूरों की है। उनमें पर्दा नहीं है; स्त्री-पुरुष हरएक क्षेत्र में साथ-साथ काम करते हैं। ऐसे समाजों में, जहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं, वहाँ नैतिक स्थिति ऊँची है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि इनमें दुर्घटनाएँ नहीं होतीं। ऐसी दुर्घटनाएँ हर समाज और हर देश में थोड़ी-बहुत होती हैं और होती रहेंगी। लेकिन जब हम इनकी स्थिति की उस उच्च श्रेणी के समाज की स्थिति से तुलना करते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुष अलग घेरों में हैं और जहाँ स्त्रियाँ बचपन से सहस्र निषेधों की आड़ में रहती हैं, तो बन्द समाज से खुले समाज को कहीं ऊँचा पाते हैं। फिर यदि किसी भी समाज की नैतिक दुर्घटनाओं का गहराई से निरीक्षण किया जाय, तो मालूम हो जायगा कि उनमें आधी से अधिक असहनीय गरीबी के कारण या उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क के कारण हैं। हम जब शहर के लोगों को यह परिस्थिति बताते हैं, तो लोग स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि उनके सामने तो किसान और मजदूर का आदर्श शहर के घरों में काम करनेवाले कहार-कहारिन और मण्डियों में घूमनेवाले मजदूर-मजदूरिन ही होते हैं। लेकिन मैं तो ग्रामीण समाज की बात कर रहा था।

शुभारंभ

हाँ, तो प्रायः एक-डेढ़ माह दौड़-धूप करके, मित्रों के एतराजों को सँभालकर और देहात के लोगों को विश्वास दिलाकर मैंने ५० बहनों का एक शिक्षण-शिविर ४ नवम्बर सन् १९३९ को फैजाबाद में खोल दिया। मैंने कोशिश की थी कि सिर्फ गाँव की बहुओं को ही अपनी योजना में लिया जाय, पर अविवाहित बहनों को भी बुला लिया। प्रथम प्रयत्न की दृष्टि से यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं थी। देहात के भले घर के लोगों ने पुरानी रूढ़ि तोड़कर १६ से २५ वर्ष की आयु की बहनों को हमारे यहाँ विश्वास करके भेज दिया। यही एक बड़ी क्रान्ति थी। बहुत-से मित्र तो इस बात पर ही आश्चर्य करते थे कि लोगों ने भेज कैसे दिया।

इस प्रकार जिस योजना पर पिछले २ साल से विचार हो रहा था, उसका सूत्रपात व्यवहार के रूप में हो गया। ● ● ●

२९-११-'४१

कल के पत्र में मैंने महिला-शिविर के उद्घाटन की बात लिखी थी। पहले दिन जब स्त्रियाँ आयीं, तो वहाँ श्री कौल और दूसरे मित्र मौजूद थे। सामने आयी हुई बहनों के घूँघट और उनके साथ बच्चों को देखकर लोग घबरा गये। कौल तो बड़े ही परेशान हो उठे। कहने लगे—"भाईजी, यह क्या बात है? इन लोगों को क्या ट्रेनिंग देंगे? ये बच्चे तो और भी भयानक हैं। इन्हें हटाइये। नियम कर दीजिये कि बच्चेवाली स्त्रियाँ चली जायँ।" लोगों की घबराहट और परेशानी देखकर मुझे थोड़ा मजा आता था; मैं मुसकराकर कहता था—"सब ठीक हो जायगा।" भला बताओ, स्त्रियों का काम करने चले हैं और झमेला भी न हो? विवाहिता बहुएँ भी हों और बच्चे न हों, यह कैसे चल सकेगा? वे बच्चे को कहाँ फेंक देंगी? मान लो, हम एक बार खोज-खोजकर ऐसी स्त्रियाँ जुटा लें, जिनके बच्चे नहीं हैं। फिर क्या? क्या हमेशा वे बिना बच्चों की रहेंगी? स्त्रियों के सुधार के लिए शिक्षण-शिविर खोलना चाहते हों और काम की योजना बनाना चाहते हों, तो बच्चों के साथ ही कार्यक्रम सोचना होगा; बच्चों को अलग कर वह नहीं हो सकता। वे घर जाकर भी यदि कुछ करेंगी, तो बच्चों को सँभालते हुए ही करेंगी; फिर बच्चों को सँभालना, बच्चों को पालना, छोटी-मोटी बीमारियों में क्या करना चाहिए, जन्म से ही उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, ये सब बातें तो स्त्री-शिक्षा का प्रधान अंग हैं। इन बातों को छोड़कर स्त्री-शिक्षा की क्या कल्पना कर सकते हैं।

प्रथम दृश्य

मैं जानता हूँ कि स्त्रियों की जितनी संस्थाएँ रहती हैं, उनमें बच्चेवाली स्त्रियों के लिए प्रवेश निषेध होता है। लेकिन यह प्रवृत्ति बिलकुल गलत है। मेरी निश्चित धारणा है कि स्त्री-संस्था की कल्पना के साथ शिशु-विभाग

की भी कल्पना रखना आवश्यक है। जो लोग बच्चों का झमेला उठाने से घबराते हैं, उन्हें स्त्री-संस्था के आयोजन का विचार ही छोड़ देना चाहिए। उन्हें कन्या-पाठशाला से ही संतोष करना चाहिए। लेकिन ऐसे संतोष से हमारे गाँव की समस्या हल नहीं होती। इसलिए लोगों की घबराहट होते हुए भी बच्चों का हमने स्वागत ही किया और शिक्षा-शिविर के साथ-साथ एक शिशुपालन-शिविर भी खोल दिया, जहाँ दिनभर बच्चे रहते थे। उनकी देखभाल के लिए प्रतिदिन तीन स्त्रियों की पारी बाँध दी। मेरी चाची एक सप्ताह आकर उन्हें दिनचर्या बता गयीं। शिशु-मंगल और प्रसूति-गृह के काम में लोग सहायता भी करते रहे। इससे माताओं को शिशुपालन की व्यावहारिक शिक्षा मिलती रही। शुरू में तो बच्चों को एक घेरे में रखना ठीक था, लेकिन जल्दी ही बच्चों में काफी अनुशासन आ गया। इस प्रबन्ध से शुरू में जो लोग परेशान थे, उन्हें भी खूब संतोष हुआ और वे इसमें दिलचस्पी लेने लगे।

बच्चों के बिना स्त्री-शिक्षण व्यर्थ

शिविर खोलने में मेरे सामने एक और कठिनाई थी। मेरे साथ काम करनेवाली कोई बहन नहीं थी। लेकिन स्त्री-शिविर बिना स्त्री के कैसे चले! यह सब सोचकर मैंने करण की पत्नी सुशीला को ही वहाँ का इन्चार्ज बना दिया। बाद को प्रांतीय स्काउट कमिश्नर मिस सुशीला आगा ने ३-४ माह का समय हमें दे दिया था। सुचेता और आचार्य युगलकिशोर की पत्नी श्री शांति बहन ने भी एक-एक माह का समय उसमें दिया था। इस तरह कमर बाँधकर यदि कोई अच्छा काम शुरू किया जाय, तो ईश्वर सारा प्रबन्ध धीरे-धीरे कर ही देता है। 'सारी सुविधा जुटाकर ही काम शुरू करेंगे' वाली प्रवृत्ति मेरी समझ में कभी नहीं आयी। इस तरह सोचें, तो कोई भी नया क्रांतिकारी कार्यक्रम चल ही नहीं सकता। फिर तो 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी।' सेवकों को अपनी योजना के औचित्य और व्यावहारिकता पर विश्वास होना चाहिए। अपने-आप

शुभ काम को ईश्वर बढ़ाता है

पर विश्वास होना चाहिए। फिर तो शुभ कार्य प्रारम्भ ही कर देना चाहिए; शेष सामग्री और साधन धीरे-धीरे मिलते जाते हैं। इस सिद्धांत पर मेरा दृढ़ विश्वास था। हुआ भी वही। बिना किसी स्त्री के भी शिविर खोलने का खतरा मैंने उठा लिया; फिर स्त्रियाँ मिलती गयीं।

चार माह शिविर में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी गयी :

१. हिन्दी, हिसाब, इतिहास, भूगोल। २. चर्खा का व्यावहारिक और औद्योगिक ज्ञान। ३. शिशुपालन और प्रसूति-विज्ञान। ४. देश-दुनिया का साधारण ज्ञान। ५. स्काउटिंग। ६. राष्ट्रीय गीत। ७. गाँव की सामान्य समस्याएँ।

चार माह के बाद इन स्त्रियों के जीवन में, दृष्टिकोण में, बुद्धि में इतना परिवर्तन हुआ कि हमें अवाक् होना पड़ता था। परिवर्तन तो कल्पनातीत था। यह उनके लिए एक दृष्टांत था, जो कहते हैं कि गाँववाले बदलना नहीं चाहते हैं। पर्दे की झेंप तो तीन दिन में ही समाप्त हो गयी थी। जो लोग पहले दिन उन्हें देख गये थे, वे एक-डेढ़ माह बाद देखकर विश्वास नहीं करते थे कि ये वही स्त्रियाँ हैं। डेढ़ माह बाद दादा (आचार्य कृपालानी) शिविर में आये थे। उन्होंने लड़कियों को देखा, उनसे बातें कीं, उनसे प्रश्न पूछकर उत्तर देने को क्लास भी लिया। मैंने दादा से पूछा कि आपने कैसा स्टैंडर्ड पाया? दादा ने कहा—"बहुत ठीक। There are as many intelligent and dull girls as you will find in such a group in towns." ("यहाँ भी उतनी ही चतुर और उतनी ही बोदी लड़कियाँ हैं, जितनी किसी भी नगर के ऐसे समूह में मिल सकती हैं।")

चार माह शिविर के शिक्षा-क्रम के साथ-साथ एक काम मैंने और किया। सुचेता और शान्ति बहन ने १ माह का समय मुझे दे दिया था। मैंने इसका लाभ उठाकर देहातों में अपनी योजना के प्रचार की बात सोची। इसके लिए मैंने प्रतिदिन दिन को १ बजे से ४ बजे तक का गाँव का कार्यक्रम रखा। एक दिन सुचेता जाती थी और एक दिन शान्ति

बहन। जिन ग्रामों की स्त्रियाँ कैम्प में आयी थीं और जहाँ सुधार-केन्द्र खोलना था, उन-उन गाँवों में विराट् सभा का आयोजन करते थे। हम यह कोशिश करते थे कि स्त्री और पुरुष दोनों आयें और वे बड़ी संख्या में आते भी थे। सुचेता और शान्ति बहन सभाओं में स्त्री-सुधार के सम्बन्ध में भाषण करती थीं और फिर बाद को स्त्रियों से बातचीत करती थीं। इस कार्यक्रम से देहाती वायुमंडल हमारे पक्ष में होता गया। सुचेता तो उसी गाँव की जो बहू हमारे शिविर में थी, उसे साथ ले जाकर उससे गाना गवाती थी। एक गाँव में उसके ससुर मुझसे कहने लगे—"भाईजी, मैंने तो आज ही अपनी बहू की सूरत देखी।" तुम्हारे लिए यह बहुत बड़ी बात नहीं, क्योंकि तुम महाराष्ट्र के वायुमंडल में काम करती हो, लेकिन अयोध्या के इलाके के लिए यह बहुत बड़ी क्रान्ति है।

अनुकूल वातावरण के लिए प्रचार

इस तरह ईश्वर की कृपा से चार माह में शिविर का काम समाप्त करके बहनों को घर भेज दिया। शिविर समाप्त हो जाने पर मेरे एक मित्र ने, जो स्कूलों के इंस्पेक्टर थे, कहा—"मि० मजूमदार, एक बात के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। वह यह कि चार माह में किसी किस्म की समालोचना का मौका नहीं आया।"

● ● ●

सेविकाओं की व्यावहारिक शिक्षा : ८० :

३०-११-'४१

बहनों को शिविर की शिक्षा के बाद फिर ९ माह के लिए कार्यक्षेत्र की व्यावहारिक शिक्षा की योजना के अनुसार कार्यक्रम बनाने की समस्या सामने आ गयी। शुरू में हमें गाँव के लोगों में अपने कार्यक्रम के प्रति सहानुभूति पैदा करनी थी। विशेषकर गाँव की स्त्रियों की प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन लाना था। मैंने सुचेता से कहा और वह समय देने को राजी हो गयी। फिर स्त्री-सुधार-केन्द्रों का उद्घाटन समारोह के साथ करने लगे। सुचेता इसके लिए बड़ी मेहनत करती थी। उद्घाटन के बाद घर-घर जाकर स्त्रियों से बातें करती थी। घरों में सुचेता के घूमने से मुझे बड़ी मदद मिली और स्त्रियों में इसके विरुद्ध भावना दूर होती रही।

सुधार-केन्द्र का श्रीगणेश लड़कियों के विद्यालय से ही करना है, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। यहाँ पढ़ाई और तकली की व्यवस्था की। ग्राम सेविका के लिए पहले साल गाँव का कोई काम करने का कार्यक्रम नहीं रखा। तीन साल की योजना में प्रथम वर्ष इसकी कल्पना भी नहीं थी। इस बार हम केवल इस बात पर जोर देते थे कि वे नियमित जीवन व्यतीत करें। अपने घर साफ रखें और अपने बच्चों को सफाई से रखें। हाँ, गाँव की बहुओं को विद्यालय में लाने की कोशिश करें, इसका ध्यान मैं हमेशा रखता था। ग्राम-सेविकाओं से विद्यालय की पढाई और कताई का लेखा रखने और मासिक रिपोर्ट तैयार करने का भी अभ्यास कराता था। प्रत्येक केन्द्र में १०-१२ पुस्तकें, १ मासिक और १ साप्ताहिक पत्र का भी प्रबन्ध हो गया। सुधार-केन्द्र की सेविका विद्यालय चलाने का काम तो करती ही थी, साथ ही अपनी परीक्षा के लिए तैयारी भी करती थी। हरएक के लिए एक अध्यापक का प्रबन्ध कर दिया गया था।

जिले में ५० शिक्षा-केन्द्र खोलने से और उसके लिए प्रचार करने से

एक लाभ और हुआ। देहातों में आम तौर से लड़कियों को पढ़ाने के प्रति लोगों की रुझान होने लगी।

इस तरह ९ माह का भी कार्यक्रम पूरा होता गया। सब बहनों ने कक्षा ४ की परीक्षा दे दी और २७ बहनें लोअर मिडिल की परीक्षा की तैयारी करने लगीं।

यद्यपि सुधार-केन्द्र में प्रधानतः लड़कियाँ ही शिक्षा लेती थीं, फिर भी बहुत-से केन्द्रों में २-४ बहुएँ भी पढ़ने लगीं। यह ठाकुरों का गाँव था। फिर भी उन्होंने पर्दा न रखने का निश्चय कर लिया। प्रथम वर्ष के ही परीक्षा-फल को देखकर मुझे विश्वास हो गया कि तीन साल में जब हम ग्राम-सेविकाओं की तैयारी पूरी कर लेंगे और सुधार-केन्द्र की सम्पूर्ण योजना का काम शुरू हो जायगा, तो गाँव की तमाम स्त्रियों में इतना मानसिक परिवर्तन हो सकेगा कि वे सब हमारी योजना में भाग लेने लगेंगी।

नौ माह का कार्यक्रम समाप्त करके दूसरे साल की शिविर-शिक्षा का प्रबन्ध कर ही रहा था कि कांग्रेस के आदेशानुसार हम लोग ग्राम-सुधार-विभाग से पृथक् हो गये। इस साल तो मेरा काम आसान हो गया था। जिले की स्त्री-सुधार-योजना के प्रथम वर्ष के परिणाम को देखकर प्रान्तीय

अब सरकार भी चेती

सरकार ने इसे जारी रखना स्वीकार कर लिया और तमाम खर्च के लिए मंजूरी दे दी। उसने केवल इतना ही नहीं किया, बल्कि इस योजना को धीरे-धीरे ४८ जिलों में फैलाने के लिए ग्राम-सेविका शिक्षा-शिविर को स्थायी भी बना दिया। यह अवश्य है कि मेरे पृथक् हो जाने से सरकार ने इस योजना का रूप बदल दिया। इस तरह ग्राम-सुधार-विभाग के साधनों का लाभ उठाकर मैंने बहुत दिनों के अपने स्वप्न को कुछ साकार रूप देने की चेष्टा की। इससे आगे के लिए मुझे बड़ा अनुभव मिला। भविष्य में यदि कभी स्त्रियों का काम करना होगा, तो इस अनुभव से लाभ होगा।

● ● ●

१-१२-'४१

ग्राम-सुधार-स्त्री-शिक्षा-शिविर का परिणाम देखकर मुझे ऐसा लगा कि हम यदि कत्तिनों को किसी तरह अधिक समय तक शिक्षा दे सकें, तो उनके जीवन में हम अमूल्य परिवर्तन ला सकते हैं। यह ठीक है कि शिविर में आनेवाली स्त्रियाँ अच्छे घर की थीं और दर्जा २, ३, ४ तक पढ़ी भी थीं, और कत्तिनें ठेठ किसान हैं। पर मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि अच्छे घर की स्त्रियाँ चाहे कुछ पढ़ी भी हों, लेकिन पर्दे के कारण बाहरी साधारण ज्ञान उनमें कम होता है। बुद्धि उनमें अधिक होती है, लेकिन अनुभव कम। एक-एक माह के लिए जो सूत-उधार विद्यालय खोला गया था, उसके द्वारा उनकी समझ और धारणा-शक्ति का अन्दाजा मुझे मिल गया था। इसलिए स्त्री-सुधार-केन्द्र का सब अनुष्ठान समाप्त होते ही इसका प्रयोग करने का विचार हुआ।

इस काम के लिए गोसाईंगंज से आधे मील की दूरी पर एक ग्राम पसन्द किया गया। यह सिर्फ किसानों का ही ग्राम है। यहाँ हम लोगों ने पंचायत स्थापित की थी, जो कि सफलता के साथ चल रही थी। यहाँ एक सेवक रख दिया। गाँव की ३०-३५ स्त्रियाँ प्रतिदिन सात घण्टे के लिए स्कूल में आती थीं। प्रतिदिन १ घण्टा अक्षरज्ञान और हिसाब पढ़ाया जाता था; शेष समय धुनाई और कताई। प्रयोग के लिए मैंने तीन माह तक विद्यालय चलाया। सप्ताह में एक दिन बौद्धिक क्लास में साधारण विषयों की बातें बता दी जाती थीं। बीच-बीच में मैं भी वहाँ जाकर कत्तिनों को इधर-उधर की बातें बतलाता था। करण भाई भी प्रायः जाते थे। केवल ३ माह में ही उनके दृष्टिकोण में कल्पनातीत परिवर्तन दिखाई देने लगा। बाबा राघवदास को एक बार उस गाँव में ले गया था। स्त्रियों से बात करके वे पूछने लगे—"वाकई ये अनपढ़ किसान हैं!" एक बार श्री कृष्णदत्त

आशातीत सफलता

पालीवालजी उस गाँव में गये थे। उन स्त्रियों को देखकर वे भी आश्चर्य करने लगे।

इसी तरह इल्तफातगंज के पास एक गाँव में प्रयोग किया। वहाँ दूर होने के कारण मैं अधिक नहीं जा सका। वहाँ के कार्यकर्ता का स्तर भी ऊँचा नहीं था। फिर भी वहाँ का परिणाम अच्छा ही रहा। २-४ गाँवों में तीन-तीन माह के प्रयोग से कत्तिनों के जीवन में परिवर्तन की सम्भावनाओं का पता लग गया और मैं जिस बात की कल्पना करता था, उस पर विश्वास हो गया। यह अप्रैल, मई, जून की बात थी। अगस्त में आश्रम की सालाना बैठक होती थी। उसमें ६-७ योग्य कार्यकर्ताओं को फिर से कताई-धुनाई की शास्त्रीय शिक्षा देकर विशेष रूप से कताई-विद्यालय खोलने का निश्चय हुआ। तदनुसार ६-७ कार्यकर्ता रणीवाँ भेजे गये। उन्हें ३-४ माह चर्खे की व्यावहारिक, यांत्रिक और सैद्धान्तिक शिक्षा देकर अकबरपुर के पास १२ गाँवों में कत्तिन विद्यालय खोल दिया। वहाँ अपनी योजना के अनुसार १ घंटा बौद्धिक क्लास भी रख दिया गया। दो माह में ही उनमें परिवर्तन देखने को मिला। लेकिन मैंने देखा कि कार्यकर्ताओं की तैयारी पूरी नहीं हुई और मार्च का महीना हो जाने से २ माह के लिए कत्तिनों को फसल काटने की छुट्टी भी देनी चाहिए थी, इसलिए कार्यकर्ताओं को फिर से शिक्षा देने के लिए रणीवाँ बुला लिया। वे रणीवाँ आये और मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया। जेल में ६ माह विचार करने से एक योजना की रूप-रेखा स्पष्ट होने लगी। कानपुर खादी-भंडार के व्यवस्थापक श्री रामनाथ टंडन मेरे साथ हैं। उनसे योजना पर विचार-विनिमय किया। फिर हम लोगों ने अपनी कल्पना लिख डाली। पूज्य बापूजी को भी एक पत्र में लिखा। बापूजी ने उस पत्र को नवम्बर के 'खादी जगत्' में प्रकाशित करके सब प्रान्तों के खादी-कार्यकर्ताओं की राय माँगी है। चर्खा-संघ यदि इस योजना को मान ले और व्यवहार में लाये, तो ग्रामीण समाज मे क्रान्ति हो जायगी। फिर स्त्री-सुधार के लिए कोई दूसरी योजना बनाने की जरूरत नहीं होगी। तुम लोगों को काम के लिए अनन्त कार्यक्षेत्र मिल जायगा। ● ● ●

खादी-सेवकों की स्त्रियाँ

: ५२ :

२-१२-'४१

पहले ही लिख चुका हूँ कि ग्राम-सुधार-शिक्षा-केन्द्र के पक्ष में वायुमंडल पैदा करने के लिए मैं देहातों में जाकर प्रचार करता था, लेकिन इस प्रकार के प्रचार में मुझे एक बहुत भारी अड़चन पड़ी। फैजाबाद जिले के बहुत-से नौजवान हमारे आश्रम के कार्यकर्ता हैं। दुर्भाग्य से उनकी स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं। सुधार-केन्द्र की स्त्रियों, यहाँ तक कि कत्तिन स्कूल की स्त्रियों का दृष्टिकोण भी उनसे उन्नत था। कार्यकर्ताओं की स्त्रियाँ नियमित चर्खा भी नहीं चलातीं और खादी नहीं पहनती हैं। ऐसी हालत में जब कभी मैं ऐसे गाँव में पहुँच जाता था, जहाँ हमारे कार्यकर्ता का घर हो, तो मैं बहुत धर्म-संकट में पड़ जाता था। मैं प्रचार करता था कि स्त्रियाँ पर्दा न रखें, चर्खा चलायें, खादी ही पहनें और हमारे अपने साथियों की स्त्रियाँ घूँघट काढ़कर घर में फँसी रहें, चर्खा न चलायें, खादी न पहनें! और हम इन्हीं कार्यकर्ताओं की मार्फत अपने सिद्धान्तों को साकार रूप देना चाहते हैं! किसी-किसी गाँव में जब लोग इस विषय पर मुझसे सवाल भी करते थे, तो मुझे झेंपना पड़ता था। इस स्थिति को देखकर मेरी आत्मा को बहुत कष्ट होता था। मैं सोचने लगा कि ऐसी हालत में हम क्या ग्राम-उत्थान का काम करेंगे। यदि हम अपने साथियों में ही कोई भावना पैदा नहीं कर सकते, तो संसार को क्या बता सकते हैं। आश्रम के कार्यकर्ताओं की स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ कार्यक्रम में भाग नहीं लेतीं, इसकी ग्लानि तो मुझमें थी ही, इस बार के दौरे ने तो मुझे परेशान कर दिया। मैंने महसूस किया कि ग्रामसेवकों की स्त्रियों की शिक्षा तो पहले होनी चाहिए। उसके बाद ही कोई कार्यक्रम गाँव में चलाया जा सकता है। लेकिन उस समय मेरे सामने कोई रास्ता नहीं था और न इसके लिए कोई साधन ही था, न मौका था। इसलिए इस बात को मन-ही-मन छोड़ा और रणीवाँ-आश्रम में जो बहनें रहती थीं, उनकी व्यवस्था करके मैंने संतोष

यह विषम स्थिति!

किया। अकबरपुर में भी जिन-जिन कार्यकर्ताओं को राजी कर सका, उनकी स्त्रियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने लगा। मेरे साथियों की राय इस मामले में मेरे साथ न होने से विशेष उत्साह तो नहीं था, फिर भी इस ओर कुछ-न-कुछ प्रयत्न मैंने जारी ही रखा।

ग्राम-सुधार की मार्फत स्त्री-सुधार की जो योजना शुरू की थी, उसके प्रथम वर्ष के शिविर के समाप्त होते ही मैं तुमसे, सुचेता से और जिससे भी मुलाकात होती थी, किसी बहन को इस काम को उठने के वास्ते कहता था। दूसरे साल के शिविर के लिए एक योग्य बहन की आवश्यकता थी। पहली बार तो प्रयोग मात्र था, स्त्रियों को बुलाकर किसी तरह काम चालू कर दिया गया। मैं खुद भी वहाँ बैठ गया। ऐसा तो स्थायीरूप से हो नहीं सकता था। इसलिए मुझे स्थायी प्रबन्ध करना था। आखिर सरला बहन की मार्फत मिस इटीरा से बात करके तय किया। उन्होंने लिखा कि नवम्बर के प्रथम सप्ताह में आने की कोशिश करूँगी। अक्तूबर में प्रान्तीय सरकार ने शिविर को सीधे अपने निरीक्षण में चलाने का निश्चय किया। वे मेरा असर उन स्त्रियों पर नहीं चाहती थीं, क्योंकि हम लोग तो उनमें राष्ट्रीय भावना ही पैदा करेंगे। जब मैं शिविर की जिम्मेदारी से अलग हो गया, तो मिस इटीरा को लिख दिया कि अब न आयें। पर मुझसे भूल यह हुई कि मैंने तार नहीं, पत्र भेजा। मिस इटीरा पहले ही वहाँ से चल दी थीं और ४ नवम्बर को आश्रम में आ गयीं।

मिस इटीरा को मैंने बहुत ही सादे जीवनवाली पाया और मन में सोचा कि आश्रम के कार्यकर्ताओं की पत्नियों के लिए शिक्षा-विभाग खोल दिया जाय। तदनुसार मैंने आश्रम में महिला-विभाग खोल दिया। मिस इटीरा ज्यादा दिन नहीं रह सकीं। तब मैं अपनी काकी (सुचेता की माँ) को बुलाकर काम चलाता रहा। बाद में मैं गिरफ्तार हो गया और ५-६ माह बाद उसे बन्द कर देना पड़ा।

योग्य व्यवस्थापिका का अभाव

● ● ●

सरकारी ग्राम-सुधार

: ८३ :

३-१२-'४१

आज मैं सरकारी ग्राम-सुधार के अनुभव लिखने बैठा हूँ। सरकारी काम में एक कठिनाई यह है कि परिस्थिति के अनुसार अपनी कल्पना को पूरा करने का मौका नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सरकारी कार्यक्रम किसी निश्चित आदेशानुसार ग्रामीण समाज को संगठित करने की दिशा में नहीं होता। गाँव के लोगों को कुछ सहायता पहुँचाने का ही लक्ष्य रहता है। मुझे प्रांतभर के लिए बनाये हुए निश्चित कार्यक्रम को लेकर चलना पड़ता था। उसे मैं अपनी धारणा के अनुसार मोड़ने का प्रयत्न तो करता था, फिर भी बहुत हद तक कार्यक्रम अलग-अलग ही होता था।

सरकार की ओर से मुझे जब जिला ग्राम-सुधार-संघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेदारी मिली, तो मैंने सबसे पहले पुरानी सरकार की योजनाओं का अध्ययन किया। फैजाबाद में अयोध्या के राजा के कोर्ट आफ वार्ड्स की ओर से ग्राम-सुधार का कुछ काम होता था। सरकारी ग्राम-सुधार भी उसीके साथ शामिल कर दिया गया था। मैंने देखा कि यहाँ सुधार के नाम पर अक्षरशः ग्राम-सुधार ही हुआ है। न तो 'ग्रामवासी-सुधार' की कोई चेष्टा की गयी थी और न 'ग्राम-समाज-सुधार' की। विभाग के सेवकों में ही जातिभेद मौजूद था। सुधार अफसर, इन्स्पेक्टर, आर्गनाइजर आदि जातियाँ अलग-अलग थीं और उसी हिसाब से आपस में व्यवहार था। शहर के लोग ग्राम-सुधार उसीको कहते हैं, जिससे गाँववालों को वे चीजें मिल जायँ जिनके बिना शहरवालों को तकलीफ होती है। यानी पक्की गलियाँ हो जायँ, ओसारा पक्का हो जाय, सीमेन्ट का फर्श हो जाय, बड़े-बड़े खिड़कीदार कमरे हों। यदि हो सके, तो बिजली की रोशनी और रेडियो हो जाय।

मैंने ऊपर कहा है कि सरकारी लोग ग्रामवासियों का सुधार नहीं करते।

मेरी ऐसी बातों से कुछ सुधार-अफसर नाराज हो जाते थे—"क्या आप समझते हैं कि हम यह भी नहीं जानते कि उनका अज्ञान ही सारे कष्टों का मूल है। हम उसका भी प्रवन्ध करते हैं।" उनका कहना सही है, वे यह भी करते हैं। वे मैजिक लैंटर्न से बताते हैं कि मक्खियाँ क्या-क्या बीमारी फैलाती हैं; हैजा से बचने के क्या-क्या उपाय हैं आदि। वे रोगों का प्रतिकार ऐसा बताते हैं कि ग्रामवासी ग्रामीण साधन से पा नहीं सकते। वे सफाई की बात भी करते हैं, लेकिन अपने खेमे की सफाई रखने में इतना खर्च कर डालते हैं कि देहाती लोग कह उठते हैं कि सफाई के लिए इतना तूल-कलाम करना है, तो मानना चाहिए कि परमात्मा ने हमें साफ रहने के लिए पैदा ही नहीं किया। यह भी अमीरों के अनेक विलासों में एक विलास ही है।

वे समाज-सुधार भी करते हैं। व्याख्यान और पर्चों द्वारा यह बताते हैं कि "तुम बड़े बेवकूफ हो। ठीक से रहना नहीं जानते; तुममें जात-पाँत का भेद है। तुम विवाह, श्राद्ध आदि अनुष्ठानों में फिजूल खर्च करते हो; तुम चमार-धोबियों का नाच कराते हो; होली खेलते हो; तुम बेकार जेवर बनाकर सोना-चाँदी घर में फँसाकर रखते हो। इस तरह तुम्हें महाजन के चंगुल में फँसकर कर्जे में डूबना पड़ता है। तुम्हारे बच्चे मूर्ख रहते और गोरू चराते हैं, घास छीलते हैं, पढ़ते नहीं। इसीलिए तुम बरबाद हो गये। अतः तुम्हें चाहिए कि घर पर किसी किस्म का बेकार आनन्दोत्सव न मनाकर मुँह लटकाकर सालभर बैठे रहो। तुम्हारे पास सोने-चाँदी के जो जेवर हैं, वे सब बेचकर रुपया कोऑपरेटिव बैंक में रख दो। जरूरत पर महाजन के पास न जाकर सहकारी समिति से उधार लो। बच्चे गोरू न चरायें, मवेशी खूँटे में बँधे रहें। घास बिना उनका काम चल जायगा। सरकार ने हर गाँव में जो निराकार स्कूल खोल रखा है, उसमें बच्चों को भर्ती कर दो।" इस प्रकार के उपदेशों की भरमार से गाँववालों का दम घुटने लगता है।

उपदेशों की भरमार

ऐसे ग्राम-सुधार से गाँव में कुछ ऊपरी सजावट आती थी। इससे ऐसा

प्रचार किया जा सकता है कि सरकार भी ग्राम-सुधार कर रही है। परोक्ष रूप से सरकार इन विभागों की मार्फत ग्रामवासियों को केवल अपने हाथ में रखने का उद्देश्य पूरा करती है।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने जब ग्राम-सुधार का काम शुरू किया, तो सुधार की नीयत तो मन्त्रियों ने बदल दी, किन्तु तरीका पुराना ही रखा। गाँव-

वही पुराने तरीके

वालों की वाकई मदद करने की नीयत होने पर भी अनुभव न होने से समस्या की जड़ पर वे नहीं पहुँच पाये। समस्याओं का अध्ययन करने का साधन भी तो उनके पास पुराने सरकारी कमीशनों की रिपोर्ट और युरोप के प्रयोगों का विवरण ही था। अतः उन्होंने केवल इतना किया कि पुराने तरीकों में अपनी शुद्ध नीयत जोड़ दी।

शुरू के ७-८ माह तक तो कोई खास कार्यक्रम ही नहीं मिला; साधारण प्रचार ही चलता था। पर प्रचार भी आखिर कितने दिन चल सकता है! कुछ ठोस काम तो चाहिए ही। जब कार्यक्रम आया, तो इस प्रकार था :

१. गाँव में पंचायत-घर बनाना। २. गाँव के कुओं की मरम्मत कराना। ३. गली-सड़क ठीक करना। ४. पंचायतें स्थापित करना। ५. रात्रि पाठशाला और दूसरी शिक्षा का प्रबन्ध करना। ६. खेती का सुधार करना।

हर काम के लिए कुछ रुपया भी मंजूर हुआ। काम चलाने के लिए जिला बोर्ड के प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र को क्षेत्र मानकर एक-एक सर्किल खोल दिया गया। इस तरह फैजाबाद जिले में २७ सर्किल हो गये।

पहले तो इतने अधिक विस्तृत सर्किल में इतने अधिक प्रकार का सुधार देखकर ही मैं घबरा गया। फिर जब उसके लिए मंजूर रकम देखी, तो मैंने समझा कि यह भी ऊपरी-ऊपरी कुछ भला करने का कार्यक्रम है। अतः मैंने केवल यही निश्चय किया कि जो कुछ भी कार्यक्रम ऊपर से आये, उसे जोर से चला दिया जाय, ताकि सरकारी साधन गाँववालों के लिए अधिक-से-अधिक लाभदायक हों!

आरम्भ में पंचायत-घर पर जोर दिया गया। मैंने भी उस पर जोर देकर करीब २५-३० पंचायत-घर बनवाये। इस काम में हमारे मन्त्री श्री महेन्द्र सिंह रनधवा, आई० सी० एस० बड़े उत्साही थे। जिस तरीके का पंचायत-घर बन रहा था, उसके साथ मैं बहुत सहमत नहीं था। लेकिन मैंने पहले ही देख लिया था कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल भी पुराने तरीके से चल रहा है, अतः मैंने अपने मंत्री पर ही ज्यादातर बात छोड़ दी थी। मैं तो पंचायत-घर के पक्ष में था ही। मैं चाहता ही हूँ कि साधन जुटाया जा सके, तो प्रत्येक गाँव में कोई सार्वजनिक स्थान हो, नहीं तो सामाजिक जीवन नहीं बन सकता है। लेकिन शुरू में पंचायत-घर नहीं बनाना चाहिए। पहले पंच बनें, फिर पंचायत और उसके बाद ही पंचायत-घर बने। जब तक पंच नहीं बनेंगे, तब तक पंचायत भी नहीं बन सकती है। पंचायत की बाबत मैं अपना अनुभव और राय बता ही चुका हूँ। गाँव में जो लोग पंच बनने लायक हैं, वे कैसे हों, यह सब लिख ही चुका हूँ। अतः अगर गाँव को आगे बढ़ाना है, तो पहले पंचों को खोज निकालना होगा और उसके लिए पहले कोई रचनात्मक ठोस काम शुरू कर देना चाहिए।

पहले पंच या पंचायत-घर?

पिछले एक पत्र में मैंने लिखा था कि हम जब तक गाँव में स्वाभाविक नेतृत्व कायम नहीं कर सकेंगे, तब तक एकाएक पंचायत कायम करके उसके हाथ में सत्ता छोड़ देने से जनता को उन्हींके हाथ में छोड़ देना होगा, जो लोग अब तक उसका उत्पीड़न करके स्वार्थ-साधन करते थे और शोषक-वर्ग के एजेंट के रूप में गाँव में फैले हुए हैं। अतः सही पंचायत कायम करने के लिए पहले पंचों के व्यक्तित्व का विकास करना है।

शहरी दृष्टिकोण-वाले अधिकारी

इस तरह पंचायत की स्थापना होने पर ही पंचायत-घर की बात सोचनी चाहिए। फिर पंचायत-घर उसी स्थान पर स्थापित करना चाहिए, जहाँ इस प्रकार पंचायत की मार्फत शिक्षालय, पुस्तकालय आदि किसी किस्म की स्थायी संस्था का संगठन हो गया हो। उसी संस्था का काम चलाने

के लिए घर बनाना चाहिए। उसकी बनावट इस तरह की हो कि उसी इमारत से पंचायत-घर का भी काम चल जाय। लेकिन मुश्किल तो यह है कि सरकारी अधिकारी, चाहे वे कांग्रेसी क्यों न हों, शहरी दृष्टिकोण रखते हैं। इसलिए कार्यक्रम भी ग्रामीण समस्या की दृष्टि से उल्टा ही होता है।

मैंने देखा कि पंचायत-घर बनने में फायदा ही है। लोगों में जोश होता है। विभाग के प्रति कुछ विश्वास भी होता है और पंचायत-घर के लिए कुछ सामान जुटाना और उसके बनाने की व्यवस्था करने में कुछ त्याग की भावना और कार्य-कुशलता भी पैदा होती ही है। इसलिए जब सुधार-मंत्री श्री काटजू साहब का आग्रह और हमारे मंत्री श्री रन्धवा के असीम उत्साह को देखा, तो मैंने भी अपनी सारी शक्ति इसे सफल बनाने में लगा दी। श्री रन्धवा ने इसके लिए इतनी अधिक मेहनत की थी कि जो देखता था, वही आश्चर्य करता था। पंचायत-घरों के कारण इस जिले का ग्राम-सुधार का कार्य प्रांतभर में प्रसिद्ध हो गया। यहाँ यह लिख दूँ कि पंचायत-घर तो बनाये और बाद को उन्हें उपयोगी बनाने की कोशिश भी की, लेकिन पंचायत-घर के मामले में मेरी राय अभी भी वही है। जहाँ ठीक-ठीक पंचायत बन सकी, वहाँ तो घर कुछ उपयोगी है, बाकी स्थानों पर बेकार पड़ा है।

पंचायत-घर के साथ-साथ दूसरा कार्यक्रम भी उसी तरह चलता रहा, जैसा कि सरकारी महकमें में चलता है। इन तरीकों को देखकर मुझे बहुत उत्साह नहीं था। मुझसे यह भी कहा गया था कि प्रांत से जो कार्यक्रम आता है, उसमें हेर-फेर नहीं हो सकता। इसलिए उसमें कुछ नयी बात सोचने की गुंजाइश ही नहीं थी। ● ● ●

को-ऑपरेटिव सोसाइटी

४-१२-'४१

जब पहले गाँव में काम करता था, तो देखता था कि गाँववालों को कर्जे की मद ही ज्यादा दुःख देनेवाली होती है। २-४ आदमी कर्ज देकर सबको बाँधे हुए हैं। कोई किसान ऐसा नहीं, जो महाजन के हाथ में बँधा न हो। यह समस्या इतनी व्यापक है कि इस पर कुछ विस्तार से विचार करना ठीक होगा।

सबसे पहले हम यह देखें कि किसान पर जो कर्ज होता है, उसे वह चाहे तो रोक सकता है या उसकी परिस्थिति ही ऐसी है कि वह उससे बच नहीं सकता। आजकल अर्थशास्त्र के पण्डितों का एक फैशन हो गया है कि वे किसानों की फिजूलखर्ची की बात कहकर कर्ज में उनके डूबने के खिलाफ आलोचना करते हैं। विवाह, जनेऊ, त्योहार आदि अनुष्ठानों में शक्ति से ज्यादा खर्च करने पर वे उन्हें कोसते हैं और उपदेश देते हैं। लेकिन वे चाहते क्या हैं? क्या गाँव के लोग गले में रस्सी बाँधकर फाँसी लगा लें? आखिर गाँववालों की जिन्दगी में है क्या? किसान का सारा जीवन नीरस और रूखा है। चाहे गर्मी हो, चाहे सर्दी, वही एक ही तरह का सुबह उठना, हल-बैल लेकर खेत में जाना। १२ माह वही चर्बन, वही मकुनी बाजरा की रोटी-दाल। कोई विभिन्नता नहीं, कोई तब्दीली नहीं। आँख मूँदकर घानी के बैल जैसा छोटे से दायरे में जिन्दगीभर घूमना ही उनके लिए रह गया है। गाँव के किसान तो आजीवन कारावास भोग रहे हैं, सो भी 'सी' क्लास का! ऐसे दुस्सह और नीरस जीवन में कभी एकआध बार कोई शुभ अवसर आता है, तो कुछ खुशी मनाना, कुछ प्रमोद करना, स्वजन कुटुम्ब से भेंट-मुलाकात करना उनके लिए स्वाभाविक और अपरिहार्य होता है। गाँवभर की नीरसता के बीच वही

आजीवन कारा-वास-सा नीरस जीवन

एकआध मौका होता है, जब आबालवृद्धवनिता थोड़ा हँस लेते हैं, थोड़ा खुश हो लेते हैं। अर्थशास्त्र के पण्डित यदि समाज-सुधार के नाम पर इन्हें भी बन्द कराकर किसानों को पत्थर की मूर्ति बना देना चाहते हैं, उन्हें ममी बनाना चाहते हैं, तो उनकी बुद्धि उन्हींको मुबारक रहे! मेरी समझ में ही यह बात आती नहीं। सोचने की बात है कि ये उपदेशक ऐसी परिस्थिति में पड़ते, तो वे क्या करते। वे दो-एक दिन के लिए भी गाँव जाते हैं, तो अपने आराम के साधन बाँधकर ही ले जाते हैं। फिर भी 'मोनोटोनस' (नीरस) कहकर ग्रामीण वायुमण्डल से भाग आते हैं। इनके मुख से यह उपदेश शोभा नहीं देता। यह ठीक है कि ग्रामीणों को फिजूल खर्च से बचाना चाहिए, लेकिन वह काम न तो आलोचना से होगा और न उपदेश देने से। उसके लिए लोग गाँव में जाकर बैठें और अनुष्ठानों का ऐसा तरीका बतायें कि खर्च भी कम हो और विनोद भी पूरा हो जाय।

यही बात जेवर की भी है। अगर जेवर गढ़ाने की वृत्ति न होती, तो २०० साल से जिस तरह सर्वतोमुखी शोषण चल रहा है, उसमें अब तक जो कुछ भी हाड़-मांस इन किसानों के शरीर में कायम है, वह भी स्वाहा हो जाता।

किसानों की एक और बात पर बहुत से उद्धारक हँसते और नाक सिकोड़ते हैं। अवध में मौरूसी हक जमीन पर नहीं है। बाप के मरने के ५ साल बाद, और कितने ही पहले से किसान को खेती से बेदखल होने पर नजराना देकर जमीन लेते हैं। जो लोग बेदखल नहीं होते, उनके पास खेत इतना कम होता है कि जब कहीं कोई भी खेत खाली होता है, तो नजराना लेकर टूट पड़ते हैं। इस चढ़ा-ऊपरी में उन्हें बहुत ज्यादा रुपया देना पड़ता है। जिन्दा रहने के एकमात्र साधन को प्राप्त करने के लिए चाहे जितने सूद पर चाहे जितना पैसा दे देने में न तो बेवकूफी है और न लापरवाही। जिसे आज ही जिन्दा रहने की समस्या हल करनी है, वह भविष्य की बात नहीं सोच सकता।

जीवन की कठोर वास्तविकताएँ

ग्रामीण उद्योग-धन्धों के खिलाफ आलोचना करनेवाले पश्चिमी अर्थ-शास्त्र के पंडित जब जमीन के वास्ते टूट पड़ने को किसान की बेवकूफी और लापरवाही कहते हैं, तो समझ में नहीं आता कि उनकी बुद्धि को हम क्या कहें। गाँव का पंचायत-समाज टूट जाने से लड़ाई-झगड़ा के कारण अदालत में मामला ले जाना पड़ता है, उसके लिए भी कर्जा बढ़ जाता है। सम्मिलित परिवार टूट जाने से छोटा-छोटा परिवार हो गया, इस प्रकार उसके साधन कम हो जाते हैं, इसलिए भी वह कर्ज में फँसता है। अतः जब मैं देहातों में काम करता था और किसानों को कर्ज की असम्भव स्थिति में देखता था और उनके कारणों का अध्ययन करता था, तो मालूम होता था कि कर्ज का कारण किसानों की बेबसी है और आज की स्थिति में वह अनिवार्य है। अपनी शक्तिभर आनन्दोत्सवों में सही ढङ्ग

विधायक तरीका

पर खर्च करने के नवीन तरीके बताकर, खेती से अधिक पैदा करने का तरीका बताकर, गाँव में मेल और सद्भाव पैदा कर, मुकदमेबाजी कम कराकर और सहायक धन्धों से कुछ आमदनी का जरिया बताकर भविष्य के लिए किंचित् सहूलियत पैदा करके ही कर्ज का भार बढ़ने से रोका जा सकता है। लेकिन इस दिशा में प्रत्यक्ष रूप से कुछ संयोजित चेष्टा करना ग्राम-सेवक के लिए बेकार ही है।

वैसे तो किसान के कर्जे का इतिहास अंग्रेजी राज्य के साथ ही शुरू हुआ है। लेकिन गौर करने पर मालूम होगा कि पिछली लड़ाई के बाद

गले का फन्दा कैसे कसा गया?

ही ज्यादा कर्ज बढ़ा है और महाजनों ने अधिक व्यापार किया है। पिछली लड़ाई के दिनों में जिनके पास पैसे थे, उन्होंने खूब पैसा पैदा किया। लड़ाई समाप्त हो जाने से लड़ाई के सामान की माँग बन्द हो गयी, तो बहुत सी पूँजी, जो लड़ाई के कारण दूनी-तिगुनी हो गयी थी, खाली हो गयी। इन पूँजीपतियों ने जब रुपया लगाने का बाहर कोई जरिया नहीं देखा, तो गाँव में उधार देना शुरू किया। इन दिनों अनाज महँगा तो था ही, इसलिए जमीन से आमदनी भी बहुत थी। जहाँ कहीं जमीन खाली हुई

कि महाजन के दलाल लोगों को जमीन लेने का लाभ बताने के लिए तैयार। ये लोग गाँव में बैठकर लोगों को उकसाकर जमीन खरीदने को चढ़ा देते थे और रुपया दिला देने का भी जिम्मा ले लेते थे। वे किसान के बड़े हितू बन बैठते थे। कहते थे—"तुम्हारे परिवार से हमने इतनी मदद पायी है। तुम्हारा दादा न होता, तो अब तक हम सब भीख माँगते फिरते और हम इतना भी न करें कि दौड़-धूप करके इतने रुपये का इन्तजाम कर दें।" ऐसे 'शुभाकांक्षी' लोग किसान को नजराना देकर जमीन लेने के लिए कर्ज का इन्तजाम करने लगे!

किसीके घर कोई अनुष्ठान हो, तो उसके ये हितैषी फौरन हाजिर। भला उनके रहते हुए परिवार की नाक कट सकती है? ऐसी नाक बचानेवाले हर गाँव में मौजूद हैं। इनके मारे कई जगह मुझे हार खानी पड़ी है। मैंने तो किसान को कम खर्च करने को राजी कर लिया, लेकिन उनके ये हिताकांक्षी कहाँ माननेवाले! ये लोग सैकड़ों परिवारों की नाक तो बचाते रहे, लेकिन उनका गला घोंटकर अपना व्यापार चलाते रहे। इस दिशा में ग्रामसेवक व्यक्तिगत रूप से उचित सलाह देकर ग्रामवासी को कुछ कर्ज से बचा सकते हैं।

ये महाजन सूद भी कसकर लेते हैं। मैंने हिसाब करके देखा है कि महाजन यदि किसीको २६) कर्ज दे, तो १० साल में ५००) पावना हो जाता है। एक सज्जन कहते थे कि मैंने ५०) कर्ज देकर २०००) का दावा किया है। और वे इसमें बहुत गर्व करते हैं! गाँव में लेन-देन के सैकड़ों तरीके हैं। उन सबका बयान करने लगूँ, तो पत्र समाप्त ही न हो। जब कांग्रेस मन्त्रिमंडल हुआ और ग्राम-सुधार-विभाग की जिम्मेदारी ली, तो मुझे ऐसा लगा कि शायद को-ऑपरेटिव विभाग की मार्फत इस दिशा में कुछ सहूलियत पैदा की जा सके। वैसे तो मेरा विश्वास हो गया था कि पिछले कर्जे के लिए सरकार यदि कुछ कर सकती है, तो उसका केवल एक ही तरीका है। और वह है, सारा कर्ज रद्द कर देना और किसानों को कर्ज से बरी कर देना। परिस्थिति इतनी जटिल है कि इसका दूसरा कोई

रास्ता ही नहीं है। लेकिन मैंने सोचा कि शायद सहकारिता द्वारा दूसरा हल निकल सके। अतएव मैं इस विभाग की कार्य-पद्धति और कार्यक्रम का अध्ययन करने लगा।

जब मैंने इसके कार्यक्रम और संगठन की रूपरेखा देखी, तो मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। सहकारी बैंक एक केन्द्रीय संगठन होता है, जो कहने के लिए प्रतिनिधिमूलक है। लेकिन सरकारी विभाग के कर्मचारी ही बैंकवालों पर हावी होते हैं। देहातों में सोसाइटियाँ खोली जाती हैं; उसकी पंचायतें बनती हैं। यूनियन का प्रधान सरकारी अफसर होता है और तीन सदस्य उसके असर से बाहर से लिये जाते हैं। पंच लोग भी उन्हींके आदमी होते हैं। जिला बैंक सोसाइटी को कर्ज देता है, सोसाइटी मेम्बरों को देती है। बैंक सीधे भी कर्ज देता है। बैंक ९% सूद लेता है और सोसाइटी १५% तक लेती है। फिर इसकी जमानत रूप में फसल बंधक रखनी पड़ती है। फसल हो जाने पर पंचायत कब्जे में कर लेती है और बेचकर अपना पैसा ले लेती है। फसल जिसके हाथ बेची जाती है, वे भी इन्हीं पंच के भाईबन्द होते हैं। वे चाहे जिसको चाहे जिस भाव से बेच दें। जो लोग फसल बंधक नहीं रखते और दूसरी चीजों की जमानत पर कर्ज लेते हैं, उनसे इतने अमानुषिक तरीके से वसूल किया जाता है कि लोग त्राहि-त्राहि करते हैं। कर्ज देने का एक खास तरीका 'जिनिराबन्द' है। माना, १ गाँव के १० आदमी कर्ज लेना चाहते हैं, तो हरएक के कर्जा अदा करने के लिए दसों आदमी सम्मिलित रूप से जिम्मेदार होते हैं। अर्थात् अगर एक ने नहीं अदा किया और उसके पास लेने को कुछ बाकी नहीं रहा, तो शेष सबसे या उनमें से किसी एक से वसूल कर लेंगे।

नागनाथ हटे, तो साँपनाथ आये!

मैंने जहाँ तक देखा है कि जिस इलाके में सोसाइटी खुली हुई है, वहाँ लोगों पर पहले से ज्यादा कर्ज हो गया है। वसूली के तरीके और पंचों के स्वार्थ के कारण लोग बरबाद हो जाते हैं। फिर जिसके पास जमानत के

लिए कुछ है नहीं, उसे तो को-आपरेटिव से कुछ कर्ज मिलता ही नहीं। इसलिए जिस क्षेत्र में को-ऑपरेटिव हो गयी है, वहाँ के साधनहीन किसान और पिस जाते हैं। स्थानीय महाजनी प्रथा नष्ट हो जाने से और बिना जमानत के को-ऑपरेटिव से कर्जा न मिलने के कारण उनकी तो मौत ही है। जहाँ-जहाँ भी सोसाइटी बनी है, वहाँ-वहाँ लोग इसके खिलाफ हैं, यह मैंने कई जिलों में देखा है। अब तुम कहोगी कि सोसाइटी छोड़ क्यों नहीं देते। वह भी तो मजबूरी है। सोसाइटी के कारण स्थानीय महाजनी संस्था टूट जाती है और कानून ऐसा बना है कि जो लोग सोसाइटी से कर्ज लेते हैं, उन्हें महाजन कर्ज देने से घबड़ाता है, क्योंकि कानूनन कर्जदार की सम्पत्ति पर पहले सोसाइटी का हक होता है, फिर दूसरे कर्जदार का। ऐसी हालत में कौन महाजन बेवकूफ होगा कि वहाँ अपनी रकम फँसा-येगा ? फिर सोसाइटी का सेक्रेटरी ऐसा आदमी होता है कि गाँववाले दूसरे पचासों तरीकों से उससे बँधे रहते हैं। वह सबको फँसाये रखता है।

को-ऑपरेटिव का तरीका और उसके कागजी ढंग अर्थशास्त्री के कान में चाहे जितना मधुर लगें, मैं समझता हूँ कि जब तक को-ऑपरेटिव इस किस्म की है, तब तक उसके फेर में पड़ना एक महाजन को समाप्त करके दूसरे अधिक ताकतवर और बेरहम महाजन को पैदा करना है। गाँव के छोटे महाजन व्यक्ति होते हैं। गाँववालों से उनका निजी सम्बन्ध होता है; वे छूट देते हैं, मोहलत देते हैं; कर्जदार के कष्ट को भी देखते हैं। लेकिन आज की को-ऑपरेटिव तो एक सरकारी मशीन है। उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होता, तो भी एक बात थी। केन्द्रीय बैंक में बड़े-बड़े डाइरेक्टरों का सोलह आना स्वार्थ भरा है। इसे गाँव के जुलाहों को तोड़कर मिल खड़ा करने की बात जैसी ही समझो।

मैंने देखा कि को-ऑपरेटिव के जरिये कर्ज की समस्या हल करना उसे और जटिल बनाना है; साथ ही ग्रामवासी को घर के महाजन के हाथ से निकालकर बड़ी शोषण की मशीन की ओर ढकेल देना है। मैंने यह भी देखा कि हमारी गुलामी को कसकर जकड़ने के लिए जैसे ताल्लुकेदार, बड़े

जमींदार, सरकारी पंचायत आदि साधन हैं, उसी तरह यह भी एक साधन बना है। यह तो और भी विवशता पैदा करनेवाली बात है, क्योंकि इसके जरिये किसानों की आर्थिक लगाम अपने हाथ में रखते हैं। जनता की राय के खिलाफ इन सोसाइटियों को धमकाकर लड़ाई का चन्दा इकट्ठा करते हुए मैंने अपनी आँखों देखा है!

कांग्रेसी सरकार को-ऑपरेटिव विभाग की मार्फत किसान का गल्ला आदि बेचने का प्रबन्ध करना चाहती थी। कुछ काम शुरू भी किया, लेकिन वह भी को-ऑपरेटिव बैंक के डाइरेक्टर बड़े-बड़े महाजनों द्वारा। इसमें भी उसी गुट की स्वार्थ-सिद्धि होती रही।

सही तरीका

ग्रामीण जनता को यदि कोई भी सरकार सचमुच सही फायदा पहुँचाना चाहती है, तो मैंने पिछले पत्र में जिस क्रम से पंचायतों का संगठन करने की बात कही है, उसी प्रकार पंचायतें कायम करके उन्हें मजबूत बनाकर स्वावलम्बी व्यवस्था की ओर चलाना चाहिए। फिर सब काम पंचायतों की मार्फत हो सकेगा और ऐसी पंचायत ही सही को-ऑपरेटिव हो सकती है।

महाजन इसीलिए ज्यादा सूद लेते हैं कि वे देखते हैं कर्ज लेनेवाले इतने गर्जमन्द हैं कि वे जो भी शर्त रखेंगे, झक मारकर माननी पड़ेगी। पंचायत का संगठन मजबूत होने से महाजन की रकम डूबने का अन्देशा कम होने पर वे खुद ही सूद कम लेंगे। आज तो जो रकम डूब जाती है, उसको भी जोड़कर सूद का हिसाब होता है। मुझको बहुत से महाजन कहते हैं कि आप को-ऑपरेटिव जैसी वसूली की गारंटी करा दीजिये, हम ५% सूद पर अपना काम चला लेंगे। बहुत से बड़े किसान हैं, जिन्हें महाजन से कम सूद पर कर्जा मिल जाता है, क्योंकि समय पर वसूली की गारंटी रहती है। लोग कहते हैं कि पंचायत के लिए सार्वजनिक वृत्तिवाले व्यक्ति कहाँ मिलेंगे। यह भय बेकार है। जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ, ऐसे आदमी खोज निकालना मुश्किल नहीं है।

●●●

५-१२-'४१

आज कुछ खेती-सुधार के बारे में लिखूँगा। सच पूछो तो खेती की हालत से ही गाँववालों की स्थिति जानी जा सकती है। शुरू में जब मैंने ग्राम-सुधार का काम हाथ में लिया, तो सबसे पहले खेती की हालत का अध्ययन किया। को-ऑपरेटिव की तरह खेती के लिए भी सरकार की ओर से खेती विभाग है। लेकिन यह महकमा केवल सरकारी ही है। को-ऑपरेटिव बैंक की तरह किसी पैसेवाली श्रेणी के स्वार्थ से जुड़ा हुआ नहीं है। को-ऑपरेटिव के कर्मचारी कोशिश करते थे कि मैं उसमें घुस न सकूँ। कारण, वे अपनी बातों को मुझसे छिपाना चाहते थे। लेकिन खेती विभाग में ऐसी बात नहीं थी। उसमें केवल महकमावाला दोष था। वे अपने को किसान का सेवक नहीं, अफसर समझते थे। साथ ही वे बहुत ही सुस्त और लाल फीतावाली मनोवृत्ति रखते हैं। खेती के काम के लिए जब तक ग्रामीण मनोवृत्ति न हो, तब तक उनकी सारी सलाह किसानों के लिए अव्यावहारिक हो जाती है। फिर भी मैं इस विभाग से कुछ लाभ उठा सका था।

आर्यनायकम जब रणीवाँ आये थे, तो यहाँ की खेती को देखकर बहुत खुश हो रहे थे कि यहाँ की जमीन बहुत उपजाऊ है। सचमुच अवध की जमीन इतनी अच्छी है कि यहाँ वैसे ही अच्छी खेती हो जाती है, फिर भी लोग भूखे हैं। इसका कारण जमीन अच्छी होते हुए भी पैदावार ठीक से न होना है।

पहले जमाने के सम्मिलित परिवार समाप्त हो जाने से दिन-दिन खेतों के टुकड़े होते जा रहे हैं। नतीजा यह हो गया है कि खेती इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में फैली हुई है कि किसान अपने मौजूदा साधनों से पूरा पैदा नहीं कर सकता है। बहुत से टुकड़े इतने छोटे हैं कि बैल हल चलाते समय घूम भी नहीं सकते हैं। फिर एक किसान की जमीन १०-१५ टुकड़े में इतनी दूर है कि हल और बैल लेकर एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े घूमने में

ही सारा दिन कट जाता है। कभी-कभी तो एकआध टुकड़े १-२ मील दूरी पर भी होते हैं। इस तरह किसानों के पास जो जमीन है, उसे जोतने में शक्ति और सामर्थ्य घटती ही चली जाती है। इस प्रकार ठीक रूप से सेवा न होने से जमीन भी दिन-ब-दिन खराब होती जाती है।

जमीन के असंख्य टुकड़े

हमारे गाँवों में जंगल खतम हो जाने से गोबर जलाने का रिवाज है और इस कारण खाद कम होने की बात सभी जानते हैं। लेकिन अवध की जमीन इतनी अधिक जुत गयी है कि इधर गाँव में मवेशी नहीं मिलते हैं। जो २-४ गायें हैं भी, बकरी जैसी छोटी-छोटी होती हैं। बैल भी बहुत कम मिलते हैं। बहुत से लोगों के खेत छोटे टुकड़ों में चारों ओर इस प्रकार बँटे हैं कि बैल रखने की जरूरत भी नहीं होती। मवेशी कम होने से न तो खेत की जुताई ठीक से होती है और न गोबर ही मिलता है, इसलिए मैंने कहा था कि यहाँ तो गोबर होता ही नहीं, फिर जलाने-न-जलाने की बात भी क्या सोचें। फिर भी जितना होता है, वह जला ही डालते हैं। जिस क्षेत्र में चरागाह हैं, वहाँ यदि गोबर जला भी देते हैं, तो भी जून से सितम्बर तक चार माह में कुछ तो खाद हो ही जाती है। लेकिन यहाँ चार माह में क्या मिलेगा, जिससे जमीन को खूराक पहुँच सके।

खाद का अभाव

इस जिले के किसानों की तीसरी कठिनाई पानी की है। जहाँ १० हाथ दूर पानी निकलता हो, जहाँ दो-दो, तीन-तीन फर्लांग पर तालाब हो, वहाँ पानी का कष्ट हो, यह वाकई आश्चर्य की बात है। इस जिले में पहले जमाने में तालाबों की भरमार थी। लेकिन सब-के-सब सदियों की लापरवाही के कारण बिल्कुल भठ गये हैं। बरसात में उनमें थोड़ा पानी हो जाता है। लेकिन अक्तूबर समाप्त होते-होते सब पानी चुक जाता है। कुओं से पानी भरना आसान है, क्योंकि यहाँ पानी नजदीक मिलता है। देखने में आता है कि यहाँ सिंचाई के कुएँ भी बहुत थे। लेकिन गरीबी

सिंचाई की कठिनाई

और जहालत के कारण आधे से ज्यादा मरम्मत बिना बेकार हो गये हैं। गरीबी के कारण साधन न जुटने से कुओं की मरम्मत नहीं हो पाती है। लेकिन जब खेत बँटता जाता है और एक ही कुएँ से कई पट्टीदार सींचते हैं, तो कौन मरम्मत करेगा, तय नहीं हो पाता है। इस तरह असंख्य कुएँ समाप्त हो गये हैं।

इसी तरह गरीबी, ग्राम-व्यवस्था के अभाव और लापरवाही के कारण सदियों से जिले में तालाब और कुएँ होते हुए भी आज किसान पानी बिना तरसते रहते हैं।

इस तरह किसानों को खेती के काम में तीन महासंकट हैं :

१. थोड़ी जमीन का भी छोटे-छोटे टुकड़ों में दूर-दूर बँटा रहना।

२. खाद का सम्पूर्ण अभाव।

३. पानी की भारी कमी।

मैं समझता हूँ कि कोई भी राष्ट्रीय सरकार खेती की दिशा में सबसे पहले इन तीन समस्याओं को हल करे, बाकी बातें फिर होंगी।

मैंने देखा कि कृषि-विभागवाले दो बातों पर मुख्यतः जोर देते थे—सुधरे हुए बीज और खेती के लिए सुधरे हुए औजारों का उपयोग। सुधरा हुआ बीज कुछ अंश तक लाभ पहुँचा सकता है। गेहूँ के बीज तो लाभ देते थे, लेकिन अधिकांश बीज तो स्थानीय रूप से खरीदकर सवाई पर देने की प्रवृत्ति थी। हम थोड़ी देर के लिए यह मानने को तैयार हैं कि सुधरे हुए बीज से किसान का लाभ है। लेकिन आज की समस्या तो ऊपर बताये हुए तीन संकटों की ही है। सरकार की सारी शक्ति उसीमें लगनी चाहिए। अपने साधन फुटकर बातों में, पश्चिमी नकल में, खर्च कर अपव्यय नहीं करना चाहिए।

सुधरे बीज और सुधरे औजार

गौर से देखा जाय, तो उक्त औजार भी बेकार ही हैं। एक तो वे इतनी कीमत के होते हैं कि साधारण किसान गृहस्थ उन्हें खरीद नहीं सकते। दूसरे, ये उन्नत औजार हमारे लिए किस हद तक लाभदायक हैं,

इसका भी विचार होना चाहिए। इस पर भी कृषि-विभाग के विशेषज्ञों में मतभेद है। मैं सरकार के कृषि के डिप्टी डाइरेक्टर से बात कर रहा था। वे कहते हैं कि इस जिले के किसानों के पास इतनी जमीन नहीं कि वे उनको आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकॉनॉमिक होल्डिंग') कह सकें। दूसरी बात यह कि उनके पास खाद-पानी काफी नहीं है। साथ ही किसान इतने सुस्त हैं कि किसी किस्म की उन्नति करना नहीं चाहते हैं। उन्नत औजार इन्हें काम में लाने चाहिए। आओ, हम इन्हीं बातों की परीक्षा करें।

गाँववालों के पास यदि इतनी जमीन नहीं है कि परिवार को खिला सकें और १ हल और १ जोड़ा बैल का पूरा काम देख सकें और जमीन की आमदनी से सारे परिवार के लिए भरपूर अन्न हो जाय, तो उन्नत औजार के लिए और उसे चलाने लायक उन्नत बैल के लिए साधन कहाँ से लायेंगे? जब छोटे हल-बैल के लिए ही जमीन काफी नहीं है, तो बड़े बैल और उन्नत औजार को पूरा काम देने के लिए कहाँ से लायें और जब उनकी खेती परिवारभर की ही खूराक पैदा नहीं कर सकती, तो बड़े बैल की बढ़ती खूराक कहाँ से लायेंगे।

हवाई बातें

दूसरी बात खाद-पानी काफी नहीं है। यह भी खेती के विशेषज्ञ बताते हैं कि गहरी जोताई होने से नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और जमीन की नमी भी जल्दी सूख जाती है। यह सब लोग समझ सकते हैं कि गहरी जुताई में जब नीचे तक जमीन उल्टी-पुल्टी होती रहेगी, तो जितनी गहराई तक खाद पहुँचे, उतनी खाद चाहिए और नमी सूख जाने से सिंचाई भी ज्यादा होनी चाहिए। इन्हीं दो बातों के संकट का खास तौर पर इस जिले के किसानों को सामना करना पड़ता है। अतः जमीन को ऊपर-ऊपर जोतकर, जमीन की स्वाभाविक नमी का फायदा उठाकर और थोड़ी खाद डालकर अपनी जो कुछ भी फसल पैदा कर लेते हैं, गहरी जुताई करके खाद-पानी बिना उससे भी हाथ धोना पड़ेगा।

लोग बहस में कहते हैं कि हम तो सस्ते-से-सस्ते हल देते हैं। यह ठीक है कि वे जो मेस्टन हल देते हैं, उसका दूसरे वैज्ञानिक हलों से दाम कम है। लेकिन एक तो उसका दाम (८-१० रुपया) भी अवध के किसानों के लिए ज्यादा है। फिर मेस्टन हल सिर्फ बरसात की पोली जमीन पर ही चल सकता है। इसलिए मेस्टन हल हो जाने से देशी हल से छुट्टी नहीं मिलती। उनको दोनों हल रखने पड़ते हैं। इसका मतलब है और ज्यादा खर्चा। मैंने देखा है कि ये हल जल्द टूट जाते हैं और टूटने पर मामूली लोहार इन्हें बना भी नहीं सकते। ऊपर की बातों से तुम्हारी समझ में आ जायगा कि किसान जो इन औजारों को नहीं इस्तेमाल करना चाहते, इसका मतलब यह नहीं है कि वे बड़े दकियानूसी हैं। मैंने खूब देखा है कि किसान चाहे जितने बेवकूफ हों, खेती में अपने फायदे की बातें झट समझ जाते हैं। वे इन चीजों से उदासीन इसलिए हैं कि वे समझते हैं कि इन औजारों को इस्तेमाल करने लायक स्थिति नहीं है।

किसान अपने लाभ को खूब समझता है !

मेरे कहने का मतलब यह न समझना कि मैं इन चीजों को बेकार समझता हूँ। इनसे अच्छी खेती हो सकती है, इससे कौन इनकार कर सकता है ? लेकिन जिन बातों की सबसे पहले आवश्यकता है, उन्हें पहले करना चाहिए।

मैं जब ये बातें कृषि-विभागवालों से कहता हूँ, तो वे नाराज हो जाते हैं। वे अपने अंकों से साबित करते हैं कि पिछले तीन साल में किस प्रकार इन औजारों की बिक्री बढ़ी है। लेकिन मैंने देहातों में सैकड़ों घरों में देखा है कि इस किस्म के औजार कूड़ाखाने या भूसाघर के कोने में पड़े रहते हैं और उनमें जंग लगती रहती है। कुछ तो इस्तेमाल बिना और कुछ टूट जाने पर मरम्मत बिना। इसलिए इनके अंकों पर मुझे कोई भरोसा नहीं होता। मैं तो अपनी आँख-देखी बात और अनुभव पर ज्यादा भरोसा करता हूँ।

खेती की समस्याएँ

७-१२-'४१

हाँ, मैं परसों कृषि-विभाग-सम्बन्धी अपना अनुभव लिख रहा था। सरकारी महकमों का काम ऐसा होता ही है। वे ग्रामीण वृत्ति से किसी चीज को नहीं देखते। इसलिए हमेशा उल्टे रास्ते चलते हैं। ग्राम-वासियों के शरीर की पुष्टि के लिए जब वे कुछ सुधार करना चाहते हैं, तो 'विटामिन चार्ट' छपवाकर बाँटते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आज विटामिन की समस्या नहीं है। समस्या तो पत्थर से ही सही, किसी तरह पेट का गड्ढा भरने की है। अतएव कोई सरकार यदि वाकई खेती का सुधार करना चाहती है, तो उसे पहले इस बात का पता लगाना चाहिए कि गाँव के किसान जिस तरीके से अब तक खेती करते आये हैं, उसमें क्या-क्या कठिनाई है या किन किन बातों की कमी है। सरकार उन्हींको पूरा कर दे। आज भी हमारे किसान खेती के तरीकों को अच्छी तरह जानते हैं। इस असम्भव परिस्थिति में भी वे जितना पैदा कर लेते हैं, मैं दावे से कह सकता हूँ कि आधुनिक कृषि-विशेषज्ञ उस परिस्थिति में हरगिज उतना नहीं पैदा कर सकते। फिर तुम किसे अधिक कुशल खेतिहर कहोगी? साधनहीन स्थिति में जो लोग दुनिया के बहुत से उन्नत देशों का पैदावार में मुकाबला कर लेते हैं, उन्हें या जो लोग राधा के नाचने के लिए नौ मन तेल के इन्तजार में बैठे रहते हैं, उन्हें? फिर इसका भी कोई निश्चय नहीं कि राधा नाचकर जितना अधिक पैदा करेगी, उसकी कीमत ९ मन तेल की कीमत के बराबर हो सकेगी या नहीं।

राधा के नाचने के लिए नौ मन तेल का इन्तजार

इस प्रकार मैं विचार कर ही रहा था कि कांग्रेसी सरकार ने 'चक-बन्दी' का कानून पास किया। मैंने समझा, अब उसकी जड़ पर जाना सम्भव होगा। स्थानीय अधिकारी की सहायता से मैंने यह काम करने की

कोशिश की। कानून ऐसा था कि किसानों को राजी करके चकबन्दी की जाय। अतः मैं जहाँ-जहाँ जाता था, वहाँ-वहाँ इस बात की कोशिश करता था कि किसान तैयार हो जायँ, तो मैं अधिकारी से मिलकर इसे कराने का यत्न करूँ। लेकिन मैंने देखा कि यह काम एक प्रकार से असम्भव है। मुझे इस बात में पूरी असफलता मिली। दरअसल आज की परिस्थिति में चकबन्दी हो ही नहीं सकती।

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि प्राचीन सम्मिलित परिवार के बँट जाने से खेती टुकड़ा-टुकड़ा होकर बँट गयी है। इस बँटवारे में तुम एक तरफ से आधा हिस्सा एक भाई को और दूसरी तरफ से आधा हिस्सा दूसरे भाई को नहीं दे सकती हो। उसमें हर प्रकार की जमीन को बाँटना होगा। कुछ जमीन ऊँची है, तो कुछ नीची। फिर कुछ जमीन इतनी नीची है कि सिर्फ जड़हन धान ही हो सकता है। कुछ जमीन मटियार होती है, कुछ दूमट, जिसमें अलग फसलें अच्छी पैदा हो सकती हैं। कुछ जमीन गाँव से दूर है, कुछ नजदीक। इस दृष्टि से भी जमीन की कीमत में फर्क पड़ जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कि कौन जमीन पानी के पास है, जंगली जानवर की पहुँच पर है या पेड़ों की छाँह में है; इत्यादि। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर बँटवारा होता है। किसान जो लगान पर जमीन लेता है, वह भी इसी किस्म की हर तरह की जमीन से थोड़ा-थोड़ा लेता है। अतः जो टुकड़ा-टुकड़ा जमीन दूर-दूर फैली हुई है, वह खामखाह गाँववालों की बेवकूफी के कारण हो गयी है, सिर्फ ऐसी बात नहीं है। इसके पीछे एक निश्चित तत्त्व है, एक नियम है, जो कम वैज्ञानिक नहीं है। हमारे यहाँ खेती वर्षा के भरोसे होती है और यह प्रकृतिदेवी की खामख्याली पर निर्भर है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि। कभी कम बारिश, कभी कुछ ज्यादा। यह तो हमेशा लगा ही रहता है। हर किस्म की जमीन और हर किस्म की खेती होने के कारण ही इस किस्म की दैवी दुर्घटनाओं का सामना हमारे किसान कर लेते हैं। क्योंकि ये दुर्घटनाएँ हमेशा एक ही

बँटवारे के पीछे भी एक तत्त्व है

किस्म की नहीं होतीं। इसलिए कभी कुछ जमीन फेल करती है, तो दूसरी जमीन कुछ दे देती है। इस तरह उनको हर परिस्थिति में कुछ औसत पैदावार मिल जाती है। हर किसान को हर किस्म की खेती से एक और फायदा है। यहाँ किसानों के पास इतनी जमीन नहीं कि वे काफी परती छोड़कर जमीन बनाते रहें। इसलिए वे हर साल हेर-फेर करके अपना खेत बोते हैं। इसके लिए हर प्रकार की कुछ-कुछ जमीन उनके पास होना जरूरी है।

मैं जब इस दिशा में कोशिश करता था, तो टुकड़ा खेती के नुकसान की बाबत लोग मुझसे सहमत होते थे। उन्हें मालूम है कि एक चक की खेती कम खर्चे से हो सकती है। लेकिन ऊपर बताये कारणों से वे चकबन्दी करने में असमर्थ थे। मैंने भी देखा कि जब तक एक आदमी का थोड़ा खेत है, जो कि 'विशेषज्ञों' की भाषा में आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकॉनॉमिक होल्डिंग') नहीं है, तब तक वे इस तरह थोड़ी-बहुत जमीन हर किस्म के खेत से लेकर अपने देहाती विज्ञान से थोड़ा-बहुत लाभदायक बना लेते हैं। इसे विज्ञान के विशेषज्ञ लोग समझ नहीं सकते।

जमीन की चकबन्दी की दिशा में मैंने जो कुछ प्रयत्न किया, उससे मैंने देखा कि इसके लिए समय और शक्ति खर्च करना बेकार है। इस जिले में एक चक की खेती तभी हो सकेगी, जब प्राचीन सम्मिलित परिवार-प्रथा चल सके या गाँव के कुछ परिवार मिलकर खेती करें यानी खेतों के मामले में वे एक परिवार हो जायँ। इस समस्या के हल करने का कोई दूसरा रास्ता मेरी समझ में नहीं आया।

दो ही उपाय

किसानों के जिन तीन संकटों के बारे में मैंने लिखा था, उनमें से एक संकट का हाल तो मैंने बताया। अब खाद की बात आती है। खाद बढ़ाने के लिए कृषि-विभागवाले जो तरीका बताते हैं, वह मौजूदा हालत में भी व्यावहारिक मालूम हुआ। मैंने पहले ही कहा था कि आर्थिक परिस्थिति के कारण और चारा के लिए काफी जमीन न होने से इधर लोग

मवेशी रख नहीं सकते हैं। इसलिए गोबर बहुत कम होता है। तिस पर भी लोग गोबर जला देते हैं। अतः जो कुछ खाद के लिए बचता है, वह नहीं के बराबर ही है। लेकिन जब कि सारा जंगल कटकर खतम हो चुका है, तो यह कहना कि "गोबर न जलाओ" बिल्कुल बेकार है। आखिर जब लकड़ी है ही नहीं, तो वे क्या करें। इस विकट समस्या को हल करने के लिए सरकारी विभागवाले कई बातों पर ठीक ही जोर देते हैं। जैसे, जितना गोबर वे खाद के लिए छोड़ते हैं, उसे वैज्ञानिक रीति से गड्ढा खोदकर व्यवस्था के साथ सड़ायें। इधर खाद के लिए जो घूर खोदते हैं, उससे खाद का हिस्सा खराब हो जाता है। कभी-कभी तो खेत के पास वैसे ही ढेर लगा देते हैं। खाद का गड्ढा बहुत बड़ा नहीं खोदना चाहिए। छोटे गड्ढे खोदकर जल्दी भर जाने के बाद उसे मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए। फिर उसके चारों ओर एक मेड़ होनी चाहिए कि उसमें वर्षा का पानी बहकर न जा सके। वे लोग मवेशी का पेशाब भी इकट्ठा करके घर में डालने की हिदायत करते हैं। ये सब तरीके ऐसे हैं कि ग्राम-समस्या पर विचार करने-वाले सब लोगों को मालूम हैं।

खाद की समस्या

मैं जब देहातों में जाता था, तो इन चीजों के लिए लोगों पर जोर देता था। मुझे ज्यादा दिलचस्पी उन चीजों से थी, जिन्हें कृषि-विभाग-वाले 'कम्पोस्ट' कहते हैं। इसे वनस्पति खाद भी कह सकते हैं। हरे और सूखे पत्ते और गाँव की टट्टी, गन्दगी, झाड़ू का कूड़ा, सब इसमें काम आ जाता है। इन चीजों का ढेर लगाकर सड़ाया जाता है और बीच-बीच में उन्हें उल्टा-पुल्टा कर देना पड़ता है, ताकि सब समान रूप से सड़ जाय। इस काम के लिए मैं खास तौर से कोशिश करता रहा और काफी कामयाब भी रहा। इस काम में मुझे दिलचस्पी इसलिए भी रही कि इसमें "एक पंथ दो काज" हो जाते हैं। "आम के आम गुठली के दाम।" खाद की खाद और गाँव की सफाई भी! गाँववालों से यदि हम कहें कि गाँव की सफाई करो, तो वे नहीं करेंगे। चाहे हम खुद उनके गाँव साफ

करते रहें, तो भी वे नहीं करेंगे। जब मैंने देखा कि हम खाद बढ़ाने के लिए 'कम्पोस्ट' की बातें करते हैं और यह बात झट किसानों की समझ में आ जाती है, तो इस काम को गाँव की सफाई की समस्या हल करने का एक बहुत भारी साधन समझकर मैं इस पर जुट गया। साधारणतया ग्राम-सेवा के काम में सफाई का काम बहुत महत्त्व का है, लेकिन ग्राम-सेवक के प्रति मेरा नम्र निवेदन है कि गाँव में पहुँचते ही गाँव की सफाई के लिए तूल-कलाम न शुरू कर दें, बल्कि अपने-आप सफाई से रहकर अध्ययन करें कि कौन-सा कार्यक्रम गाँववालों को तात्कालिक लाभ देनेवाला ऐसा है, जिसकी मार्फत सफाई हो सकती है, उसीको करने लग जायँ।

सबसे ज्यादा तकलीफ पानी की है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जितने तालाब थे, वे सब-के-सब भट गये हैं और कुओं में से अधिकांश खतम हो चुके हैं। अब सवाल यह था कि इस समस्या का हल कैसे किया जाय। सरकार की ओर से इस मद में हमें जो पैसा मिला था, वह भी इतना अपर्याप्त था कि उससे एक कुएँभर की मदद नहीं हो सकती थी। संसार के सभी

पानी की समस्या

चिन्ताशील लोगों का एकमात्र कथन है कि नहर से ही पानी की समस्या हल हो सकती है। यह बात ठीक है, लेकिन यह सर्वकाल और सर्वदेश के लिए सही है या नहीं, इस पर विचार होना चाहिए। संयोग से जब हम लोग ग्राम-समस्याओं का अध्ययन कर रहे थे, तभी हमारे जिले में नहर का महकमा खुल गया और उससे किसानों को खूब पानी मिलने लगा। नहर जिले के बहुत थोड़े ही हिस्से में आयी हुई है। लेकिन उतने इलाके के किसानों को पानी का फायदा खूब मिला। पानी की इफरात देखकर किसान नाच रहे थे। मैं जब उन देहातों में घूमता था, तो खेतों को बिल्कुल हरा पाता था। लेकिन साल-भर बाद ही लोगों में असंतोष दिखाई देने लगा। एक तो लोगों को समय से पानी नहीं मिलता था। दूसरे, जैसा कि स्वाभाविक था, जो लोग बड़े किसान थे, बड़े जमींदार थे और सरकारी कर्मचारियों से मेल-जोल रखते

थे, उनके यहाँ पानी पहले जाता था। यह शिकायत तो शुरू से ही थी। इफ़रात पानी होने से लोग खेती में खूब पानी भर रखते थे। इससे खेत बहुत ठण्डे हो गये। पानी काफी होने से फसल देखने में काफी ताजी मालूम होने लगी। इससे गोड़ाई के प्रति लोग उदासीन रहने लगे। जो लोग खेती के बारे में जरा भी ज्ञान रखते हैं, वे जानते हैं कि ठिकाने से गोड़ाई करके पपड़ी फोड़ न दी जाय, तो जमीन के नीचे की सतह पर न हवा पहुँच सकती है और न रोशनी। इससे नीचे की सतह खराब हो जाती है। जमीन के नीचे हवा और रोशनी न पहुँचने से फसल की जड़ नीचे नहीं जाती है, क्योंकि उसको तो जिधर आसानी पड़ेगी, उधर जायगी। जड़ ऊपर-ऊपर होने से एक नुकसान यह होता है कि जब ऊपर की सतह सूख जाय, तो फिर से पानी से तर न करो, तो पौधा जिन्दा नहीं रहता। फिर वह जरूरत से ज्यादा पानी माँगता है और जमीन अधिक ठण्डी हो जाती है। नतीजा यह होता है कि जमीन से गर्मी निकल जाने से अन्त में रबी की फसल खराब हो जाती है। सरकार पानी का दाम प्रति बीघा के हिसाब से लेती है; पानी की तादाद पर लगान नहीं लेती है। इस कारण भी किसान पानी लेने में अन्धाधुन्धी करते हैं।

पानी के इफ़रात से हानि

पानी की इफ़रात के कारण एक और नुकसान होता है। पानी खेत से कटकर या बाहर फूटकर इधर-उधर फैल जाने पर किसान परवाह नहीं करते। नतीजा यह होता है कि इधर-उधर जितनी जगह नीची रहती है, वह सब भर जाती है और सड़ती रहती है। सभी नीची जगहें नहर की वजह से हमेशा नम रहती हैं और उनमें काई जमती रहती है। क्योंकि नहर के पानी की सतह उन जमीनों से ऊँची होने के कारण पानी का सोता नीची जमीन पर खामखाह पहुँचता है। इस तरह नहर के पानी के सोते के कारण और खेत और बाहर के पानी के फैलने से नहर के पास के देहातों के आसपास तमाम जगह सड़ती रहती है और गाँव का स्वास्थ्य खराब होता है।

नहर की वजह से देहातों का स्वास्थ्य खराब होने का एक और कारण भी है। नहर बन जाने से वर्षा के पानी के निकास के स्वाभाविक रास्ते रुक जाते हैं। यह ठीक है कि नहरवालों ने जहाँ तक सम्भव हो सका, पानी के निकास की नालियाँ बना दी हैं, फिर भी तो पहले-जैसी स्वतन्त्रता से पानी नहीं निकल पाता है। इससे भी वर्षा का पानी जहाँ-तहाँ रुककर जमीन खराब करता है और स्वास्थ्य का भी नाश होता है। जहाँ वर्षा बहुत कम होती है, आबहवा काफी खुश्क है, वहाँ यह पानी तो सूख भी जा सकता है, लेकिन वर्षा-प्रधान देश में तो यह समस्या काफी गम्भीर होती है। क्योंकि वर्षा जहाँ ज्यादा होगी, वहाँ पानी के निकास की स्वतन्त्रता अधिक चाहिए। वैसे रेलवे आदि से पानी का निकास रुकता ही था, लेकिन नहर हो जाने से स्थिति और भी भयंकर हो गयी।

पानी की निकासी रुकने से हानि

मैं जब नहर विभागवालों से बात करता हूँ, तो वे इन बातों को स्वीकार करते हैं। वे तो इससे भी ज्यादा नुकसान की एक बात बताते हैं। उनका कहना है कि जिस इलाके में रेह ज्यादा है, उस इलाके में नहर के पानी में घुलकर वह तमाम जमीन में फैल जाती है। जिन इलाकों में अधिक दिन से नहर चल रही है, उन क्षेत्रों में इसका दुष्परिणाम दिखाई देने लगा है। फैजाबाद जिले में भी जब कुछ दिन नहर रह जायगी, तो कहीं सारी जमीन चावल ही चावल के लिए न रह जाय, क्योंकि चारों ओर से नमी-ही-नमी इकट्ठा होने से खेत में गर्मी रह ही न जायगी और इस कारण गेहूँ के लिए खेत खराब हो जायगा। फिर रेहवाली जमीन हो जाने से धान के अलावा और कौन फसल रह जायगी। और यह सबको मालूम है कि अवध में बहुत अधिक रेह है।

एक और खतरा

पानी की बाबत भी मैंने सैकड़ों किसानों से पूछा है। वे सब कहते हैं कि खेती के लिए नहर से कुएँ का पानी ज्यादा फायदे का है। तालाब

का पानी कुएँ के मुकाबले में उतना अच्छा नहीं होता है, लेकिन नहर से वह भी अच्छा है। मैं जब उनसे पूछता हूँ कि फिर आप लोग कुएँ से क्यों नहीं सींचते हैं, तो जवाब में वे कहते हैं, एक तो नहर उनके सिर पर आ पड़ी है, दूसरे, इतने कुएँ और तालाब अब रह भी तो नहीं गये।

कहा जाता है कि नहर सस्ती पड़ती है, कुएँ से या तालाब से सिंचाई महँगी पड़ेगी। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। मैंने पहले ही कहा था कि प्रत्येक परिवार में इतने आदमी हैं और जमीन इतनी कम है कि सबके लिए पूरा काम नहीं मिलता। यह बात मैंने तब कही थी, जब लोग कुएँ या तालाब के पानी से खेती करते हैं। यानी नहर से सिंचाई होने पर और लोग खाली हो जायँगे। वे लोग भी तो घर बैठे खायँगे। इसलिए सस्ता और महँगा देखने के लिए सिर्फ पानी का लगान ही थोड़े देखना है; उस लगान में उनकी खुराक भी जोड़नी चाहिए, जो लोग नहर की वजह से बेकार हो जाते हैं। फिर तो नहर सस्ती भी नहीं पड़ेगी। खासकर उस जिले में, जहाँ ८-१० हाथ पर पानी मिलता हो।

क्या नहर सस्ती है ?

मैंने नहरी इलाके में दौरा करके, किसानों से बात करके और नहर के विज्ञान की जानकारी रखनेवालों से चर्चा करके यही समझा है कि नहर उन स्थानों के लिए मुफीद हो सकती है, जहाँ पानी की सतह बहुत नीची हो, वायुमण्डल खूब सूखा हो, जिससे स्वास्थ्य खराब न हो सके, जमीन इतनी हो कि वहाँ की आबादी को जमीन में काफी काम हो और जहाँ वर्षा कम होती हो। लेकिन फैजाबाद जैसे जिले में, जहाँ पानी इतना नजदीक है, जहाँ आबादी इतनी है कि यदि बाल्टी भर-भरकर सिंचाई करें, तो भी सबको काम न मिले, जहाँ वर्षा इतनी अधिक है कि पानी के खुलकर निकास की पूरी गुंजाइश लाजिमी हो और जहाँ रेहवाला ऊसर इतना हो, वहाँ नहर फैलाना बेकार है। इससे तो सरकार पुराने तालाब और कुओं का पुनरुद्धार करने में किसानों की यदि सहायता कर दे, कुओं की खुदाई में मदद दे दे, तो ज्यादा फायदा हो सकेगा।

यह सब सोचकर मैं अपने ग्राम-सुधार-विभाग के थोड़े-बहुत साधनों के द्वारा तालाबों और कुओं के पुनरुद्धार के प्रयोग में लग गया।

प्रान्तीय सरकार ने जिले में ३०-४० कुओं की 'बोरिंग' करने का साधन दिया था। उनका तरीका यह था कि प्रत्येक सर्किल में २-१ कुआँ बनवा दिया जाय। पानी के लिए कुछ और खर्च करने की मंजूरी थी, जो गाँव के कुओं की जगत बनाने की मदद देने के काम में आती थी। इतने कम साधन से किसी प्रकार के प्रयोग की गुंजाइश नहीं थी। मैं चाहता था कि एक छोटे-से क्षेत्र में १००-१५० कुओं में 'बोरिंग' करने की मदद दे सके और उस इलाके में जितने तालाब हों, उन्हें खोदवाने का प्रबन्ध हो सके। उस समय कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल पदत्याग कर चुका था। इसलिए मन्त्रियों से कहकर कुछ मदद लेने की भी आशा नहीं थी। वैसे

कुओं की 'बोरिंग'

तो पिछले साल से ही मैं इसका प्रयोग करने की सोच रहा था। लेकिन पिछले साल तो स्त्री-सुधार योजना को सफल बनाने की धुन थी। इसलिए इस दिशा में न कोई निश्चित योजना ही बना सका और न कोई काम ही शुरू कर सका। लेकिन मैं समझता था कि यह काम काफी खर्च का है, इसलिए सालभर पहले से ही हमको जिले का जो पैसा मिलता था, उसमें से बचाना शुरू किया था। इस साल भी मैंने कुएँ की जगत का और 'बोरिंग' का सब रुपया इस प्रयोग में लगा देने की बात सोची। मैं इस बारे में कुछ प्रयोग करने की बात सोच ही रहा था कि प्रान्तीय सरकार के ग्राम-सुधार-विभाग के आर्गनाइजर श्री मार्श, फैजाबाद स्त्री-शिक्षा का काम देखने आये। उनसे मैंने अपने प्रयोग की चर्चा की। वे सहमत हो गये। लेकिन वर्ष का अन्तिम समय आ जाने से वे कोई विशेष मदद नहीं कर सके। फिर भी दूसरे जिलों से, जहाँ का 'बोरिंग' का काम ठीक से नहीं हो रहा था, ग्रांट का पैसा फैजाबाद के लिए दे देने का आदेश दे दिया। मैंने २० गाँव घूमकर करीब ८०-९० कुओं की 'बोरिंग' की। 'बोरिंग' हो जाने से किसान बहुत खुश हुए। वे कहने लगे कि नहरवालों से हम अच्छे हैं।

मैं चाहता था कि पूस-माघ के महीनों में, जब किसान खाली रहते हैं, गाँववालों की मार्फत तालाबों का पुनरुद्धार कर सकूँ, लेकिन वह हो नहीं सका। २-१ जगह कोशिश की, लेकिन एक तो अभी पंचायतों का संगठन इतना व्यवस्थित नहीं हो सका था, दूसरे, तालाब व्यक्तिगत सम्पत्ति होने से लोग उसके लिए श्रम करने को तैयार नहीं थे।

कुओं के काम में चौड़े क्षेत्र में सफलता देखकर मैंने दूसरे साल के लिए उसी क्षेत्र में ५०० कुएँ 'बोरिंग' करने की योजना बनायी। उस साल के प्रयोग के लिए प्रान्त से मदद मिल जाने से सालभर पहले जो रुपया मैंने बचा रखा था, वह बच गया। उस साल का सारा रुपया भी बच गया और नये साल में 'बोरिंग' के प्रयोग के लिए हमारे जिले को विशेष रकम मिली थी और कुओं की जगतवाला रुपया तो नये साल में भी मिला। इस तरह हमारे पास १५०००) हो गया।

जिस इलाके में पिछले साल कुओं में बोरिंग का काम किया गया था, उस इलाके में लोगों से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि वे सब इसे बड़े उत्साह के साथ करना चाहते हैं। वे तो यहाँ तक तैयार हैं कि यदि सरकारी तकावी मिल जाय, तो सामान और मजदूरी अपनी ओर से दे सकते हैं। वैसी हालत में हमारे पास जो साधन था, उससे ५०० कुएँ ठीक हो सकते थे। इसकी योजना भी मैंने अपने कर्मचारियों को समझा दी। दिसम्बर से काम शुरू होना था, लेकिन नवम्बर में ही कांग्रेस के लोगों ने ग्राम-सुधार से इस्तीफा दे दिया। फिर तो यह काम जिला मजिस्ट्रेट के हाथ में वही पुराने अधिकारी ढंग से गाँव में कुछ लोगों की कुछ मदद करनेवाली नीति से चलने लगा।

थोड़े समय में पानी-सम्बन्धी समस्या पर मैं जितना ध्यान दे सका, उससे मेरी यही धारणा बनी कि यदि सरकार सचमुच किसानों की मदद करना चाहती है, तो उन क्षेत्रों में, जहाँ नहर बिना काम नहीं चल सकता है, वहाँ पर नहर बनाये।

एक योजना

लेकिन मैंने जैसी स्थिति फैजाबाद के लिए पहले बतायी है, वैसी स्थितिवाले

इलाकों में तो यदि सरकार किसानों को निम्नलिखित मदद कर दे, तो नहर की अपेक्षा उन्हें अधिक लाभ होगा :

१. जितने कुएँ खराब हो गये हों, उन्हें ठीक करने में और जरूरत पड़े, तो उनमें 'बोरिंग' करने में किसानों की मदद करना।

२. पंचायतों को व्यवस्थित करके उनके द्वारा जितने तालाब हैं, उनका पुनरुद्धार करना। इसके लिए सरकारी मदद देना।

३. बहुत-सी छिछली नीची जमीन देहातों में पड़ी रहती है, जिसमें न खेती हो सकती है और न वह इतनी गहरी है कि पानी कुछ दिन ठहर सके। हमारे जिले में इसे ताल कहते हैं। इस किस्म की जमीन बहुत विस्तृत होती है। कभी-कभी ५०० से १००० बीघे तक होती है। ऐसी जमीन सरकार को मुआवजा देकर ले लेनी चाहिए। वह उनके बीच में खोदकर बड़े-बड़े तालाब बना दे और चारों ओर जो जमीन निकल आये, उसे चरागाह बना दे। सरकार चाहे तो ऐसे सार्वजनिक चरागाह में मवेशी चराने की फीस लेने का अधिकार रखे और उसके द्वारा चरागाह और तालाब का प्रबन्ध करे। इसमें पानी का और मवेशी चराने का दोनों काम हो सकता है। अभी ये जमीनें बेकार पड़ी रहती हैं।

● ● ●

९-१२-'४१

ग्राम-सुधार-विभाग के द्वारा हम केवल पाँच ही बातें कर सकते थे :

१. पंचायत-घर, २. कुआँ आदि की मरम्मत, ३. गली-कूचे तथा गाँव में जाने का रास्ता ठीक करना, ४. शिक्षा और ५. स्काउटिंग।

पंचायत-घर के और कुओं की बाबत जो कुछ किया या सोचा, वह मैं लिख चुका हूँ। गाँव के कुओं की जगत और रास्ता आदि बनाने के काम में मैं अपना समय या शक्ति नहीं लगाता था। वह काम सेक्रेटरी और इन्स्पेक्टर पर छोड़ दिया था। मैं केवल शिक्षा पर ही विचार करता रहा। स्त्री-सुधार-शिक्षा का विस्तृत विवरण तुम्हें लिख चुका हूँ। स्त्री-सुधार और शिक्षा केन्द्र स्थापित करके मैंने अपना ध्यान पुरुषों की शिक्षा और स्काउटिंग पर लगाया।

प्रौढ़-शिक्षा का जो सरकारी कार्यक्रम था, उसके अनुसार प्रत्येक सर्किल के कुछ पढ़े-लिखे नौजवानों को ३) से ५) मासिक देकर रात्रि-पाठशाला खुलवानी थी। स्त्री-शिक्षा-केन्द्र खोलने के लिए इन सबको बन्द करा दिया था। अब प्रान्तीय सरकार ने स्त्री-सुधार का काम स्वीकार कर लिया था, इससे प्रौढ़-शिक्षावाला साधन खाली हो गया था। इधर ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से ग्रामीण स्काउटों का संगठन करने के लिए प्रत्येक जिले के लिए एक स्काउट ऑर्गनाइजर मिल गया। यह तो

प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग

तुम्हें मालूम ही है कि सरकारी काम दिखावटी होते हैं। एक स्काउट ऑर्गनाइजर जिलेभर घूमकर कुछ कवायद करा दे, इतना काफी था। मैंने सोचा, प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग को मिलाकर यदि हम योजना बनाते हैं, तो यह काम स्थायी रूप से चल सकेगा। गाँव के लोग इतने लापरवाह हो गये हैं कि बिना स्थायी केन्द्र बनाये उनके जीवन में कोई स्थायी परिवर्तन

नहीं आयेगा। अतः मैंने तय किया कि कुछ लड़कों को ३-४ रुपया मदद करके गाँव में सिर्फ रात्रि-पाठशाला चलाने के बजाय एक सर्किल में एक योग्य कार्यकर्ता पूरे समय के लिए ले लिया जाय। वह रात को प्रौढ़-पाठशाला चलाये और दिन को स्काउट-संगठन करे। सरकारी जिला ऑर्गनाइजर इनके काम का निरीक्षण करे।

इस प्रकार पूरे समय के लिए कार्यकर्ता का प्रबन्ध हो जाने से मैंने २३ केन्द्रों के लिए २३ नौजवान भर्ती कर लिये और रणीवाँ में ढाई मास के लिए ग्राम-सेवक-शिक्षा-शिविर खोल दिया। इसका कार्यक्रम वही था, जो आश्रम की ओर से प्रौढ़-शिक्षक-शिविर का था। उन्हें चर्खा, ग्राम-समस्या और स्काउटिंग की शिक्षा भी दी जाती थी। उनसे केवल तीन काम लेने का विचार था :

चर्खे का प्रचार, प्रौढ़-शिक्षा और गाँव की सफाई। इसके अलावा परिस्थिति को देखकर दूसरा काम देने का विचार किया था। इसी दृष्टि से शिक्षा दी गयी।

इन २३ शिक्षकों ने अपने-अपने सर्किल में जाकर ठीक उसी किस्म का एक-एक स्काउट-शिक्षा-शिविर खोला। इन शिविरों के लिए कोई सरकारी मदद नहीं मिली थी। सारे खर्च का भार स्थायी पंचायत ने उठाया। इन शिविरों में ११ शिक्षक प्रति शिविर के हिसाब से शिक्षकों की शिक्षा हुई। इस प्रकार २३ सर्किलों में २५३ शिक्षा-केन्द्र खुल सके। इन केन्द्रों से गाँव की जनता के सुधार-काम में बहुत उत्साह दिखाई देने लगा।

प्रान्त के ग्राम-सुधार अफसर जब जिले में आये, तो स्काउटों की भर-मार देखकर कहने लगे कि इतने स्काउट कहाँ से आये ? मैंने उन्हें अपनी योजना समझायी। उन्होंने पूछा, इतनी वर्दी कहाँ से आयेगी ? मैंने कहा कि मैं तो सबको चर्खा सिखा रहा हूँ और ३ गुण्डी प्रति सप्ताह कातने की प्रतिज्ञा लेना नियम में रखा है। इसीसे वर्दी हो जायगी। उन्होंने इसे खूब पसन्द किया और सारे प्रान्त के लिए इसे चला दिया। जब प्रान्त-

भर के लिए शिक्षा-शिविरों का प्रबन्ध हुआ, तो मैंने इसका लाभ उठाकर दुबारा केन्द्रीय शिविर खोल करके सर्किल शिक्षकों को फिर से बुला लिया। इससे उनकी शिक्षा और अच्छी हो गयी।

इस बार शिविर में एक और बात का प्रयोग करने की कोशिश की। मुझे मौजूदा स्काउटिंग का तरीका पसन्द नहीं था। यह सारा-का-सारा दिखावटीपन से भरा था। इससे गाँव के किसानों की सुस्ती तो कुछ जरूर हटती है, लेकिन उनके जीवन में बहुत लाभ नहीं होता था। इसलिए कवायद में खेती की जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनकी शिक्षा कवायद रूप में देने की विधि निकालना शुरू किया। इस तरह फावड़ाड्रिल, खुरपाड्रिल, चर्खाड्रिल आदि की शिक्षा देकर ग्रामीण स्काउटिंग को किसान-लायक बनाने का प्रयोग करता रहा।

मेरा विचार था कि इसी योजना की मार्फत गाँव के किसानों के जीवन को संगठित करने की कोशिश करूँगा। लेकिन इसी समय हम लोग ग्रामसुधार-विभाग से अलग हो गये। ● ● ●

ग्राम-सेवा की वृत्ति और सेवक की जिन्दगी : ७८ :

१०-१२-'४१

कल के पत्र में मेरी ग्राम-सेवा की कहानी समाप्त हुई। तुमने देखा होगा कि शुरू से ही गाँव के काम में मेरी रुचि थी। रणीवाँ में जिस प्रकार योजना का सूत्रपात हुआ, उसकी कुछ कल्पना १९२९ में हुई। फिर रासना में प्रयोग करने का कुछ प्रयास हुआ। बाद में सन् १९३५ से १९४१ यानी ६ साल तक लगातार इस दिशा में प्रयोग चलते रहे। सरकारी साधन की भी सहायता मिली; तब जाकर योजना का साकार रूप दिखाई देने लगा। इससे समझ सकती हो, गाँव में कुछ करने के लिए कितने धैर्य की जरूरत है। प्रायः ग्राम-सेवक इसीसे घबड़ाकर भागते हैं। सरकारी ग्राम-सुधार भी दो साल तक करने को मिला। पहले तो मैं कुछ उदासीन था, इसलिए कि उसमें हो ही क्या सकेगा, फिर उधर ध्यान दिया। स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग की मार्फत सुधार करने की कल्पना का प्रयोग और आयोजन कर रहा था। खेती की और कर्ज की समस्या पर भी अध्ययन किया। २-३ साल तो अध्ययन, विचार, प्रयोग और आयोजन में ही लगता है, फिर कुछ ठोस काम का रूप मालूम होता है, लेकिन मेरा उद्योग पूरा नहीं होने पाया कि यवनिका-पतन हो गया और सरकारी महकमे का दृष्टिकोण ही बदल गया। इसलिए मेहनत तो बहुत की, पर कोई स्थायी काम न हो सका। हाँ, महकमे के काम से मुझे निजी फायदा बहुत हुआ। ग्रामीण समस्या का अध्ययन और अनुभव जितना इन दो सालों में हो सका, उतना और किसी तरह न होता।

इधर आठ माह से जेल में बैठा हूँ, इससे भी फायदा हुआ। एकान्त में बैठकर विचार करने का मौका मिला। पिछले बीस साल की कहानी तुम्हें लिखने के बहाने पिछली बातें स्मरण करनी पड़ीं। पिछली भूलों पर

भी विचार कर सका। इससे भी लाभ ही होगा। देहातों की वास्तविक समस्या पर जितना भी विचार किया जाय, थोड़ा है।

जब से मैं जेल आया हूँ, प्रायः लोग मुझसे पूछते रहते हैं कि गाँव में काम करने के लिए कोई योजना बताइये। दरअसल योजना बताना मुश्किल ही है। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल के लिए ग्रामसेवक को स्वयं ही परिस्थिति देखकर योजना बनानी होगी। हमें तो सिर्फ इतना ही देखना है कि हम किस वृत्ति से काम करें और ग्रामसेवक की तैयारी कैसी हो।

देहात के लिए योजना

अब तक ग्राम-सुधार का सरकारी, गैर-सरकारी जितना भी काम हुआ है, उसमें प्रधानतः तीन वृत्तियाँ पायी जाती हैं :

१. दया-वृत्ति,

२. उपदेशक-वृत्ति और

३. सेवा-वृत्ति।

आजकल जहाँ कहीं भी ग्राम-सुधार का काम होता है, अधिकतर ग्राम-सेवकों की वृत्ति दया करने की होती है। हम अपनी स्थिति से गाँववालों की स्थिति की तुलना करते हैं और देखते हैं कि वे बहुत गरीब हैं। उनका घर टूटा-फूटा है, उनके पास पहनने को कपड़ा नहीं है। उनका रास्ता कीचड़वाला है, उसे वे बनवा नहीं सकते। उनके कुएँ टूटे हुए हैं। बेचारे गाँववाले नंगे-भूखे, गन्दे और साधनहीन हैं। अतः इनकी कुछ मदद करनी ही चाहिए। इनमें कुछ सेवा बाँटनी चाहिए। इनकी सड़क बनवा देनी चाहिए। कुएँ की मरम्मत करवा देनी चाहिए। सफाई के कुछ साधन देने चाहिए। कहीं से पैसा लाकर स्कूल खोलना चाहिए। शहर के पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोग, संभ्रान्त श्रेणी के लोग, सरकारी महकमे के कर्मचारी, राष्ट्रीय कार्यकर्ता आदि ऐसी वृत्ति रखते हैं। ये लोग गाँववालों को छोटा, दीन और हीन मानकर उन पर दया करना चाहते हैं। प्रश्न है कि ये लोग ऐसी

दया-वृत्तिवाली सेवा

दया और करुणा की वृत्ति को पूरा करने के साधन लाते कहाँ से हैं ? शिक्षित भद्र-श्रेणी के पास जो साधन हैं, उनका स्रोत है—डॉक्टरी की आमदनी, वकालत, सरकारी नौकरी या व्यापार। यह आमदनी अन्ततः आती तो है गाँव के गरीब लोगों से ही। राष्ट्रीय कार्यकर्ता के पास जनता के चन्दे का ही तो पैसा है। सरकारी कर्मचारी के पास जनता का ही तो धन है। फिर किसका धन किसे करुणापूर्वक देना है ? हजारों रुपया छीनने के बाद किसीको दस-पाँच रुपये मदद देने की उदारता का क्या अर्थ है ? हमारे ग्राम-सेवकों को ऐसे दम्भ से अपने को बचाना है।

ग्राम-सेवक को समझना चाहिए कि गाँव के लोग दीन हो सकते हैं, हीन नहीं। यह सही है कि वे इतने बेबस हो गये हैं कि अपने इस अपमान को महसूस नहीं करते। वे दान पाकर आशीर्वाद देते हैं। कुछ दिन पहले सड़क, रेलगाड़ी और अस्पताल पाकर अंग्रेजी सरकार को वे 'माई-बाप' कहने लगे थे। लेकिन वे आशीर्वाद और यह 'माई-बाप' कहना तभी तक है, जब तक वे इस अपमान को महसूस नहीं करते। सच बात तो यह है कि दया-वृत्ति से उन दोनों का ही नैतिक पतन होता है, जो दया करते हैं और जो दया स्वीकार करते हैं। देनेवालों में बड़प्पन का दंभ आता है और लेनेवालों में बेबसी की हीनता। हमारे राष्ट्रीय सेवकों में अधिकतर ऐसी ही वृत्ति रहती है, क्योंकि प्रायः ये लोग, सेवा के लिए जीवन अर्पित कर देने पर भी, अपने बड़प्पन के संस्कारों को छोड़ नहीं पाते।

उपदेशक-वृत्ति-वाली सेवा

ग्राम-सुधार की समस्याओं पर विचार करनेवाले कुछ बुद्धिजीवी लोग होते हैं। वे समझते हैं कि गाँववालों के पास बुद्धि कम है। वे मूर्ख हैं और अपनी नासमझी के कारण तरह-तरह के कष्ट भोगते हैं। उन्हें अच्छे रहन-सहन का ज्ञान कराना चाहिए। उन्हें बताना चाहिए कि संतुलित भोजन किसे कहते हैं, रोग कैसे फैलते हैं, रोगों से कैसे बचना चाहिए, बच्चों को कैसे रखना चाहिए, प्रसूता को कैसे रहना चाहिए, आदि। गाँववालों को

ये बातें बताने के लिए बड़े-बड़े पोस्टर बनाने चाहिए, पर्चे छपवाने चाहिए। 'मैजिक लैण्टर्न' के खेल दिखाने चाहिए और इस तरह गाँव-गाँव में प्रचार करना चाहिए। ये लोग भूल जाते हैं कि गाँववाले साधनहीनता के कारण कितने विवश हैं। ऐसी वृत्ति को मैं 'उपदेशक-वृत्ति' कहता हूँ।

तीसरी वृत्ति है—ग्राम में ग्रामवासी की तरह बसना, गाँववालों की सेवा करना, उनकी शक्ति का परिचय करना और अपने आचरण से बताना कि श्रम द्वारा क्या-क्या हो सकता है। ग्रामवासी में हनूमान् की तरह सुप्तशक्ति अन्तर्निहित है। ग्राम-सेवक का कर्तव्य है कि वह उस शक्ति को जाग्रत करे और उसका ठीक ढंग से उपयोग करे। गाँववालों को उनके अधिकार समझाकर उनके उत्साह का भरपूर उपयोग करना चाहिए। गाँववालों में स्वावलम्बन की भावना पैदा करनी चाहिए। बाहरी साधनों से ग्रामीण समस्या की नदी पार नहीं की जा सकती। कोई उस भारी बोझ को उठा भी नहीं सकता। जो कोई ऐसी चेष्टा करेगा, उसका कन्धा ही टूट जायगा।

वास्तविक सेवा-वृत्ति

ग्राम-सेवक को अपना जीवन भी नियमित बनाना होगा। उसे अपना चरित्र हमेशा माँजते रहना होगा। सेवा भी तो एक कला ही है। सेवक का जीवन ही उसकी कला का औजार है। कुशल कलाकार की तरह उसे अपना यह औजार तेज, स्वच्छ और व्यवस्थित रखना होगा। उसे यह भी देखना होगा कि उस पर किसी दूसरे रंग का चिह्न तो नहीं रह गया है। कलाकार अपनी तूलिका केवल उसी रंग में रँगता है, जिस रंग से वह अपना चित्रपट रँगना चाहता है। ब्रश में यदि दूसरा रंग रह जाता है, तो चित्रपट ही बदरंग हो जाता है। सेवक अपने समाज को जिस रंग में रँगना चाहता है, अपने जीवन पर भी उसे वही रंग चढ़ाना होगा, नहीं तो उसका समाज बदरंग हुए बिना न रहेगा।

सेवा ही कला है

सेवक को दारिद्र्य का व्रत भी लेना होगा। अपना निजी खर्च हो या सार्वजनिक खर्च, उसे अत्यधिक मितव्ययी होना चाहिए। हमारे कितने ही राष्ट्रीय सेवक ठाट-बाट और सजावट पसन्द करते हैं। उन्हें हमेशा यह डर लगा रहता है कि अगर वे ठाट-बाट से न रहेंगे, तो सजावट-पसंद समाज उन्हें पीछे ढकेल देगा। सार्वजनिक धन भी वे उदारता से खर्च करते हैं। इसका कारण कुछ तो उच्च श्रेणी का दया का संस्कार है और कुछ लोकप्रियता का मोह है। उनके सभी व्यवहारों से ऐसा मालूम होता है कि वे किसी रईस के कर्मचारी हैं, गरीब जनता के सेवक नहीं। सेवावृत्तिवाले ग्राम-सेवकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम कंगाल बैंक के मैनेजर हैं। हमारे मालिक भूखे-नंगे लोग हैं। उनके सेवक होते हुए उनकी अपेक्षा हम अधिक शान से कैसे रहें ? सभी जानते हैं कि जो नौकर मालिक की अपेक्षा ऊँची हैसियत से रहता है, वह एक दिन अवश्य ही मालिक का दिवाला निकाल देता है। इसलिए यदि कोई सेवक पैतृक संस्कार के कारण अथवा शारीरिक असमर्थता के कारण इस मामले में समझौता करता है, तो उसे उसकी कमजोरी और मजबूरी समझना चाहिए। जहाँ तक हो, कमजोरी से कम-से-कम समझौता होना चाहिए।

कंगाल मालिक के सेवक

गाँववालों को बेवकूफ और गन्दा कहकर ग्राम-सेवक को नाक नहीं सिकोड़नी चाहिए। उसे श्रद्धापूर्वक गाँववालों की सेवा करनी चाहिए। जिसके प्रति श्रद्धा न होगी, उसकी हम सेवा कैसे करेंगे ?

ऐसी सेवा-वृत्ति लेकर ऐसी चारित्रिक तैयारी के साथ ग्राम-सेवक को गाँव में जाना चाहिए। उसके लिए कोई बनी-बनायी योजना नहीं है। योजना तो गाँव में जाने पर ही बनेगी। बिहार के भूकम्प में व्यापक विध्वंस देखकर लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, तभी पंडित जवाहरलाल नेहरू आये और फावड़ा लेकर खोदने लगे। "सोचना क्या, खोदो !" की आवाज प्रतिध्वनित हुई। हजारों खन्ती, हजारों फावड़े चलने लगे। क्या करना है, पहले से कैसे सोचते ? किसे मालूम, किस स्तूप के नीचे कौन सम्पत्ति,

कौन प्राणी दबा पड़ा है! पुनर्गठन तो मलवा हटने पर ही हो सकता है।

शताब्दियों की अवहेलना से, लूट और शोषण के प्रहार से हमारे ग्रामीण समाज की प्राचीन विधि-व्यवस्थाओं और धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक संस्कारों की इमारत चकनाचूर हो चुकी है। उस ध्वंसावशेष के नीचे पता नहीं, कहाँ कौन-सी सम्पत्ति और कौन-सी मानवता दबी पड़ी है। आज यदि हमें ग्रामीण समाज का उद्धार करना है, समाज की पुनःस्थापना करनी है, तो सेवकों को आगे बढ़कर जवाहरलाल की पुकार—"सोचना क्या, खोदो!" के अनुसार खोदना शुरू करना होगा। कुसंस्कारों का मलवा हट जाने पर भीतर से प्राचीन व्यवस्था और संस्कृति की सम्पत्ति निकल आयेगी। तभी ग्राम-समाज का पुनर्गठन हो सकेगा।

कुसंस्कारों का मलवा

ग्रामीण जीवन की प्राचीन अग्नि, प्राचीन चरित्र की ज्योति शताब्दियों से राख और धूल के नीचे दबी पड़ी है। उसके कारण चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार फैला है। ग्राम-सेवक को निराश न होकर अन्धकार में प्रकाश डालना है। वह प्रकाश बाहर से 'टार्च' या बिजली की बत्ती ले जाकर नहीं डालना होगा। उसे बड़प्पन और शिक्षा के दम्भ को दूर रखकर, नम्रता से झुककर, सावधानी से फूत्कार द्वारा राख उड़ाकर नीचे की आग चेतानी है। राख उड़ने से सेवक का सारा शरीर गन्दा हो जायगा। आँखें भर उठेंगी, पर उससे घबड़ाना नहीं है। उसी ढेर के नीचे से जो अग्नि प्रकट होगी, उसके सहारे उसी भूमि की मिट्टी का दीप जलाकर समाज के कोने-कोने में सुव्यवस्थित और कलापूर्ण दीपावली करनी है।

यहीं की आग से दीप जलाओ!

ग्राम-सेवा के प्रयोग में जो कुछ देखा, मन में जो कल्पना आयी, वह तुम्हें सुना दी। मेरा यह आखिरी पत्र है। मीतू को बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा
धीरेन्द्र

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

	रु० न० पैसे
(विनोबा)	
गीता-प्रवचन	१– ०
शिक्षण-विचार	१–५०
कार्यकर्ता-पाथेय	०–५०
त्रिवेणी	०–५०
भगवान् के दरबार में	०–१३
साहित्यिकों से	०–५०
सर्वोदय के आधार	०–२५
ज्ञानदेव-चिंतनिका	१– ०
भूदान-गंगा(छ खंडों में)प्रत्येक	१–५०
जन-क्रांति की दिशा में	०–२५
ग्रामदान	०–७५
अम्बर चरखा	०–१३
(धीरेन्द्र मजूमदार)	
नयी तालीम	०–५०
शासन-मुक्त समाज की ओर	०–५०
ग्रामराज	०–२५
(श्रीकृष्णदास जाजू)	
संपत्तिदान-यज्ञ	०–५०
व्यवहार-शुद्धि	०–३७
(दादा धर्माधिकारी)	
सर्वोदय-दर्शन	३– ०
मानवीय क्रांति	०–२५
साम्ययोग की राह पर	०–२५
क्रान्ति का अगला कदम	०–२५
(अन्य लेखक)	
छात्रों के बीच	०–३१
सर्वोदय का इतिहास	०–२५
श्रम-दान	०–२५
पावन-प्रसंग	०–५०
भूदान-आरोहण	०–५०
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१– ०

	रु० न० पैसे
भूदान-गंगोत्री	२–५०
सफाई : विज्ञान और कला	०–७५
क्रान्ति की पुकार	०–२५
गोसेवा की विचारधारा	०–५०
गांधी : राजनैतिक अध्ययन	०–५०
नये अंकुर	०–२५
सामाजिक क्रांति और भूदान	०–३१
गाँव का गोकुल	०–२५
ब्याज-बट्टा	०–२५
पूर्व-बुनियादी	०–५०
सुन्दरपुर की पाठशाला	०–७५
सत्संग(विनोबाकी मुलाकातें)	०–५०
भूदान का लेखा(आँकड़ों में)	०–२५
राजनीतिसे लोकनीतिकी ओर	०–५०
आज का धर्म	०–५०
विनोबा-संवाद	०–३७
नक्षत्रों की छाया में	१–५०
सर्वोदय-संयोजन	१– ०
क्रांति की राह पर	१– ०
सत्याग्रही शक्ति	०–३१
गाँव आन्दोलन क्यों ?	२–५०
ताई की कहानियाँ	०–२५
दादा का स्नेह-दर्शन	०–२५
सत्य की खोज	१–५०
ग्राम-सुधार की एक योजना	(प्रेस में)
प्राकृतिक चिकित्सा क्यों ?	०–२५
अपना राज्य	०–३७
अपना गाँव	०–५०
भूदान से ग्रामदान	०–१३
सपूत (नाटक)	०–३७
जीवन-परिवर्तन (नाटक)	०–२५
पावन-प्रकाश (नाटक)	०–२५

ग्राम-सेवा का तंत्र

देहातों की सेवा का प्रमाण-पत्र आसानी से नहीं मिलता। वहाँ हमें रात-दिन अतंद्रित रहकर काम करना होगा।

जब हम देहात में जायँगे, तो हमारे सामने एक विराट् जगत् खुलेगा। अनेक स्त्री-पुरुषों से सम्पर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणों की तरफ ही जाना चाहिए। दोषों की तरफ प्रवृत्ति हरगिज न होनी चाहिए।

सेवकों को सभी वादों और पक्षों से अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे संसार में दो ही पक्ष हैं—एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी। हमें स्वामी की सेवा से ही सन्तोष मानना है। यही सेवक का धर्म है। सेवक को दलबन्दियों से क्या मतलब ? उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए।

ग्रामसेवक को प्रतिदिन कुछ समय—संभव हो, तो आधा समय उद्योग के लिए देना चाहिए। उसे ग्राम-सेवा का अंग ही समझना चाहिए।

डेढ़ रुपया